आगमोद्धारक-ग्रन्थमालाया चतुर्विश रत्नम् ।

णमोत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ।

पू आगमोद्धारक-आचार्यप्रवरश्री-आनन्दसागरसूरीश्वरेभ्यो नम

# आगमोद्धारक-कृतिसन्दोहः ।

तस्याय जैनगीता-आगममहिमा-मुनिवसनसिद्धिरितित्रयरूप

## पञ्चमो विभाग ।

卐

सशोधक

प० पू० गच्छाधिपति-आचार्य-श्रीम माणिक्यसागर-
सूरीश्वरशिष्य शतावधानी मुनिलाभसागर

प्रतय ५० ] [ मूल्यम् ७-०० पै

वीर सवत् २४९० — वि सवत् २०२० — आ स १५

प्रकाशक
आगमोद्धारक-ग्रंथमालाना एक कार्यवाहक
शा रमणलाल जयचंद
कपडवंज (जि. खेडा)

द्रव्यसहायक

५००-०० पू. आगमोद्धारक-आचार्यश्री आनन्दसागरसूरीश्वरजी महाराजना शिष्यरत्न गणिवर्यश्री चिदानन्दसागरजी महाराजना सदुपदेशथी मालेगाम जैनसंघ ज्ञानखाता तरफथी।

मुद्रक
मगनभाई चतुरभाई पटेल
मेनेजर
सहकारी छापखानु वडोदरा लि.
रावपुरा, वडोदरा

# शुद्धिपत्रम् ।

| पृ | प | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|---|---|---|---|
| १ | १३ | नाम | नाम |
| ५ | १६ | भने | भवे |
| ७ | ६ | घन्या | यन्या |
| ११ | ५ | सेना, | सेनाऽ |
| ,, | १० | त्रियात | भियाऽत |
| १३ | १४ | वुद्धे | धुद्धे |
| १६ | २७ | गार० | धार० |
| १७ | १८ | ध्यये न | ध्ययेन |
| १८ | ८ | मापू | मापु |
| २९ | १३ | प्युर्गी | र्युर्वी |
| ३१ | १ | तद्देने | तद्देवे |
| ५१ | १६ | तत | सत |
| ५३ | १८ | मा त | सात |
| ,, | १५ | सुशुते | सुटने |
| ५७ | २ | वाध्य | वाद्धर्थ |
| ५८ | १० | पक्ष्या गुरु | पक्ष्याऽगुरु |
| ६० | ३ | घा- | धा |
| ६३ | १२ | मतान | मता न |
| ६५ | ७ | भाधा | भावा |
| ,, | १९ | गापिता | दापिना |
| ६६ | १ | ऽसु | सु |
| ,, | ९ | निवृत्ति | निवृति |
| ६८ | १४ | नोघ | नौघ |
| ६९ | ९ | पृथक्त्ने न | पृथक्त्वेन |
| ७३ | ८ | द्विका | द्विका |
| ,, | १५ | च्छयासो | च्छ्वासा |
| ७४ | ३ | क्षय | चय |
| ७५ | १४ | चारन् | चरन् |
| ७८ | २० | परदा | परदार |
| ८० | १२ | सविशाप | स विशेष |
| ८१ | १ | सङ्गा | संज्ञे |
| ८२ | ७ | शुभ | शुभ |
| ८३ | २ | ग्रहित्व | ग्रहो |
| ८६ | ८ | या | ये |
| ९० | १५ | जनतानां | जनाना |
| ९४ | २ | श्रल्य | श्रैल्य |
| ,, | १३ | वाङ्मय | धाङ्मय |
| ९५ | ४ | वल्ति | वल्गित |
| ९६ | १२ | स घ | सङ्घ |
| ९९ | १२ | सत्या | सत्त्वा |
| १०३ | ३ | पदाङ्कस् | पदाङ्कम् |
| १०६ | ७ | मङ्घे | सन्धे |
| १११ | ८ | द्दशक | द्दशक |
| ११२ | १ | यानेन | याते न |
| ११२ | १८ | स्वभा० | स्वभा० |
| ११४ | १९ | निगत | विगीत |

| पृ | प | अशुद्धम् | शुद्धम् |
| --- | --- | --- | --- |
| ११५ | ३ | दशा | द्दशा |
| ,, | १० | च्छेदात् | छेदात् |
| ११७ | १० | अधिक्रार | अधिकार |
| १२२ | ७ | निजम् | निज |
| १२५ | १९ | धरेयु | धरेयु |
| १२६ | ६ | स्तीयन्त | नीयन्त |
| ,, | १० | पुगात् | पूगात् |
| १२८ | १० | मेकान्तिक | मैकान्तिक |
| ,, | ११ | ,, | ,, |
| १३१ | ५ | यद्वासा | यद्वासा |
| १३२ | १८ | यन्मात् | यत्नात् |
| १३३ | ४ | कुल्शिाभ्र | कुलिशोऽभ्र |
| , | १५ | प्रभत्र | प्रभव |
| १३५ | २ | विषभा | निपमा |
| १३६ | ३ | शुद्ध | शुद्धि |
| १४१ | १५ | भागो | भागो |
| १५० | ५ | रत्ना | रत्न |
| १५१ | १५ | यतो | त्को |
| १५२ | ८ | धार्डा | धार्द्री |
| १५३ | १६ | न | सु |
| १५७ | ६ | त्रिंशत् | त्रिंशत् |
| १५९ | १२ | गमाला | गमाना |
| १६१ | १८ | भविष्या | भविष्या |
| १६६ | २ | भवति | भवति |
| १७८ | ४ | धर्मं | धर्मं |
| १८५ | ४ | धायगा | काय |
| १८६ | १२ | यधौ | यधौ |
| १८७ | ५ | सुतो | सुतो |
| १८९ | १७ | देवे | देवे |
| १९४ | ७ | स्थित | स्थिति |
| २०८ | ६ | प्राप्तौ | प्राप्तो |
| ,, | १० | मवा | भवा |
| २१३ | ५ | श्रय | श्रय |
| २३१ | ४ | शास्त्र | शास्त्रे |
| २३८ | १६ | वधिक | घधिक |

# — विषयानुक्रम —

# । प्रकाशकीय-निवेदन ।

प० पू० गच्छाधिपति आचार्य श्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजी महाराज आदि ठाणा वि. स. २०१० ना वर्षे कपडवंज शहेरमां मीठाभाई गुलालचंदना उपाश्रये चतुर्मास बीराज्या हता । आ अवसरे तेओश्रीना पवित्र आशीर्वाद आगमोद्धारक-ग्रन्थमालानी स्थापना थएली हती आ ग्रन्थमालाए त्यारबाद प्रकाशनोनी ठीकठीक प्रगति करी छे ।

तेओश्रीनी पुण्यकृपाए आ 'आगमोद्धारककृतिसंदोह'नो भाग ५ मो के जेमा 'जैनगीता', 'आगममहिमा' अने 'मुनिवचनसिद्धि' नामनी त्रण भव्य कृतिओ छे ते ग्रन्थने आगमोद्धारक ग्रन्थमालाना २४ मा रत्न तरीके प्रगट करता अमो बहु हर्ष थाय छे

आनी प्रेस कोपी तथा आनु संशोधन प० पू० गच्छाधिपति आचार्यश्री माणिक्यसागरसूरीश्वरजीनी पवित्र दृष्टि नीचे शतावधानी मुनिराजश्री लाभसागरजीए करेल छे ते बदल तेओश्रीनी तमज जेओए आना प्रकाशनमां द्रव्य तथा प्रति आपवानी सहाय करी छे ते बधा महानुभावोना आभार मानीए छीए ।

लि०

प्रकाशक

णमोत्थु ण समणस्स भगवओ महावीरस्स ।
पू० आगमोद्धारक–आचार्यश्री आनन्दसागरसूरि–प्रणीता

# जैनगीता ।

## । अध्याय प्रथम । (अर्हदधिकार)

अर्हतो मनुते देवान्, दर्शयन्तश्चतुर्दश ।
स्वप्नान् गर्भावतारे ये, मत्यम्बालवर्जिता ॥१॥
जातमात्रा सुराद्रौ येऽभ्यषिच्यन्त सुरेश्वरै ।
न स्तन्यपा सुरानीत–फलाद्या उचितक्रिया ॥२॥
त्यक्त्वा हिंमादिपाप्मानोऽक्रम्या परिषहादिभि ।
हत्वा घातीनि लब्ध्वाऽन्त्य, ज्ञान महायनिग्रहा ॥३॥
साधुसाध्व्य श्राद्धश्राद्ध्यश्चतुर्धामङ्घसङ्ग्रहा ।
आद्यन्तयामयोर्नित्य, योजनानुगदेशना ॥४॥
देशका द्विविधे धर्म, जिननामप्रभावत ।
चत्वारोऽतिशया जात सुरसाध्योनविंशति ॥५॥
कैवल्ये स्वेभ्यादेव, चतुस्त्रिंशत् समाऽद्भुताम् ।
मायाविनो न तान् धर्तु–मीशास्तादृग्स्वरूपिण ॥६॥
शक्रादिभि कृता पूजा, प्रातिहार्याष्टकधु ।
अयोगिना गता मुक्ता, जन्ममृत्युरजाऽन्तके ॥७॥
सिद्धिं विना गतिर्नान्या, सत्य कैवल्यचित्सुखा ।
भवभ्रमक्ष्कारस्य, भव्यका स्थिरताचिता ॥८॥

न व्यक्तिपूज्यनाराग, न मक्तार्थीननत्परा ।
गुणलभ्यपदोदैना भव्योद्धारपथोद्धुरा ॥९॥

मक्तिगाणा गुणा मुख्या, येषा निमलशासने ।
सङ्घः पापपरावर्ती, सिद्धान्त सिद्धिसाधक ॥१०॥

भावसाप्यफलाऽऽलापा, निग्रहाऽनुग्रहोज्झिता ।
सरस्वतीमाम्य, यथार्हे देशका भुवि ॥११॥

नायुधेन च कौमारी-रमीया दूषिताऽऽकृति ।
आत्माऽऽदर्शधरा मूर्ति-र्हेतुस्त्यागवियोऽमल ॥१२॥

यस्याऽऽज्ञाराधना मुक्ते-र्हेतुस्तद्गुणसश्रया ।
भक्ति श्रेष्ठतमा सानु-रागा स्यात तदीयके ॥१३॥

अमर्त्यमर्त्यसम्पर्को, अश्रितियगताऽऽश्रयाम् ।
निग्राहत्वेन लोकाना न कृपावञ्चनापरा ॥१४॥

जगद्विधानकर्यान्नै-मीषका न मताद्भिनाम ।
यथाकर्म फल प्राह-रद्विना हितकामुका ॥१५॥

एवंविधान् विविधभावमयाञ्जिनेशान्,
मन्येत यो विहितभावनयोऽमथ ।
त्यक्त्वाऽपरान् कुपथगामिन आत्तिरूपान्,
जैन स एव ननु मुक्तिपथप्रधान ॥१६॥

इति प्रथमोऽध्याय ।

। द्वितीयोऽध्याय । ( सिद्धाधिकार )

सिद्धान् सिद्धगुणान् समग्रजगत प्रान्तस्थितान् सादिमान्न
श अनस्थानगतान् निहत्य निखिलान समाग्पातप्रात् ।
मूलात् क्रमचयान्निना मगुणतो लब्ध्वाऽमिता सम्पद,
दृष्टान्तैरुभुर शिवाध्वरहन वन्दत दवत्वधी ॥१॥

समस्तजीवा अमितादिकाला–न्निगोदवासे व्यवहारवर्जिते ।
कश्चित्ततो याति यदानुकूला, सलोकमाता भवित यताऽऽस्मन ॥२॥

भूम्यादिभावान् प्रथमात्मसस्थान् प्राप्तो भवेत् स व्यवहारमाक् स्यात् ।
तत्राऽप्यनन्तान् परिवर्त्तकालान्, नालो भवन् क्षुद्रभवाभिनन्दी ॥३॥

पुण्यान्हितुष्वपि कालहेतो , प्रधानभावाचरम स यायात् ।
आवर्त्तमङ्गी शिवधामसद्म, तत्रैव नान्यत्र पुन स्पृहत ॥४॥

स्वतोऽन्यतो वा यदि मन्यभाव , पक्षी भवेन्मार्गमनुश्रयन् च ।
सन्धयृत्तेरनुकारभाव, भवत पर मोहमयन्धयन् स ॥५॥

सदागमाऽऽश्लिष्टमन प्रबन्धो, मान्याञ्जिनार्चीन् मनुते प्रसन्न ।
प्रशसको नैव भवाश्रिताना, निरस्तचित्तो भयभावमीत ॥६॥

जिनेश्वराज्ञामविदन् श्रयेत स, सेवेत दयान् सुगुरून् सुधर्मान् ।
भ्रष्टोऽप्यरण्ये नतु याति मार्ग, सुदृष्टकीर्त्ते शुभभाविजीवन ॥७॥

मागानुसा सन्मविर्दिश्ततापो, यदाऽर्धमावर्त्तमशोषयत् स ।
वज्रोपमाऽपूर्वमपूर्वमाप्य, ग्रन्थि विभिन्द्यात् खलु पापराशे ॥८॥

विद्ध यथा मौक्तिकमेत्य पङ्क, नाविद्धमेव क्षतपापराशि ।
कदापि नेदृग् भविता निगोद, गतोऽपि भेदस्य परात् प्रभावात् ॥९॥

मिमित्र मिथ्यात्वमनन्तमूल, द्वितीयभावेन भवेत्तृतीये ।
सम्यक्त्वसम्पत्तिगाहो लभेता ऽऽस्तिक्यादियुक्त हि गुणे तुरीये॥ १०॥

जीवादिमर्थं मनुते कथञ्चि-दस्तित्वनित्यत्वगुण प्रमेयम् ।
तथैव कर्ताऽनुमनी भवाभो, स्वकर्मणा सद्व्यवहारदृष्ट्या ॥११॥

भव्यत्वपाके शिवसाधनानि, सद्दर्शनज्ञानयमानुपैति ।
समग्रमध्यग्रशातशुद्धि-निर्वाणमेति प्रगुणाऽऽश्रमाव. ॥१२॥

आस्तिक्यमेष्यत्व द्विधा दयाया, प्रवृत्तवीर्यो भवभायमीर ।
मनातने धाम्नि सदा रत स, कषायराशिं जिनादितत्त्वे ॥१३॥

महाव्रताकाङ्क्ष उभवीर्या-भावाद् भवेत् कोऽपि गृहिव्रतोत्क ।
अभ्यस्तशिक्ष श्रमणत्वमेति, विहाय हिंसादिभयाऽऽश्रयात स ॥१४॥

मोहक्षयायोद्यत आप्तवीय-श्रेण्या समस्त विनिकाश्य मोहम् ।
स केवलीभूय सयोगभावो, जिनोऽपि कश्चिद् भवतीह जीव ॥१५॥

तीर्थ विधायेति स चापलेश्य-मयोगमेषोऽपि लभेत सिद्धिम् ।
भेदा यत पञ्चदश प्रसिद्धा, अनन्तर सिद्धिपद गतेषु ॥१६॥

एव दुर्दान्तकर्मक्षपणविधया लब्धसिद्धत्वभावा,
नोच्छिन्ना ज्ञानशून्या न च भवजनना निग्रहानुग्रहाका ।
शश्वत्स्थास्थिताश्रितसुगततिकलिता भव्यजीवावलम्बा,
य सिद्धास्तान् सदा यो मनुत उदयगुणदत्तभावेन जैन ॥१६॥

इति द्वितीयोऽध्याय ।

। तृतीयोऽध्याय । ( आचार्याधिकार )

वन्दताऽऽचायवर्यान् सुगुरुपदपरान मोक्षमार्गकलीना-
स्तार्थेशैस्तुल्यरूपान् प्रवचनशरटोद्वाहकान गच्छनाथान ।
सूत्रार्थादेशकर्तॄन् प्रवरपटुमतीन् वादिवादैकतानान,
नित्य तीर्थस्य मारा निन्धत उदयाकाङ्क्षुकान् य म जैन ॥१॥
गते तीथनाथे समस्तज्ञसाथ, शिव यो वहत तीर्थभार नितान्तम् ।
यथाऽस्तगत धामरेशे निशेशे, प्रदीपो जगत्या पदार्थप्रभासी ॥२॥
जिना जीनितान्त वहन्त्येव तीथ, सुतीर्थं तथाप्यत इहोदिता नो ।
अथोद्घातकार्लीथरूपा मुनीशा, मता शासन यावदत्त तदीशा ॥३॥
जिनेशै शिवाध्वा समस्ताङ्गिसाम्ने, सभाया पुर स्थापितो दोपमुक्त ।
मुनीना शुचिश्रावकाणा पर त, सदा सूरिवर्या वहन्ते प्रकामम् ॥४॥
कृतार्थो यथा सार्थवाहो जनाना, सुतप्त्याऽध्वनि प्राप्तविबाधनानाम् ।
तथा सूरिवर्या सुदृष्टिप्रधानान्, निवार्याऽऽपन्ने मो क्षमाग नयन्ति॥५॥
यथा तीथनाथान् समाराध्य सद्द–गवन्य भवे तीथनाथस्तृतीये ।
तथा सूरिवर्यान् समाराध्य जन्तुस्तृतीये भव तीर्थनाथ प्रभाव् स्यात॥
जिनेशा भवेयुर्यथाऽऽशातिता द्राग, भवान त्यमिथ्यात्वदानैरदक्षा ।
मुनीशास्तथैवन्यवनानत नो, जिननाथ्यम तार इहाऽमलाभा ॥७॥
पर सूत्रमल्प यताऽसौ विलुम्पेत्, भवान त्यमेतीह हित्वा सुदृष्टिम् ।
यत्न तु प्रकाशेत सम्यक्तया तत्, स शास्त्रेण गीत सुसूरिवरिष्ठ ॥८॥
सुदीक्षा समस्तैव उद्घातदक्षा गृहीत्वा गुरो पापहर्त्री सुशिक्षाम् ।
समभ्यस्य सूत्रार्थयुग्म समेत्य, शुभस्थापना सत्प्रवरस्थापना प्राग ॥९॥

द्वादशाङ्गीं गुरुपार्श्वे-रधीत्याऽऽगममक्षयम् ।
काल तान तमेवाथ, भवत मुनात्रयुगमपि ॥[illegible]॥

विहारयेत् सूरिवरस्तमाप्य, साधोश्च दर्शनिदशभागम् ।
मुण्डा् प्रतीन्छेच्च बहून् मुनीन् स,
विद्यान्च भाषा विविधा जनानाम् ॥११॥

जिनेशजन्मप्रतत्त्वलात-वृद्भूमिमेदयाऽमल्दशनान्ध ।
ज्ञात्वा पदार्हं मुनिनाथवर्यां , पदऽभिसिञ्चन्ति सहानगारे ॥१२॥

मथाल्पवृद्धे गण ईश एप, द्रव्यैर्गुणै सत्परिवर्त्तनै सह ।
पाल्यत तेनापि जिनानुकार, तोप्येत सेनाथपमानि दक्षा ॥१३॥

सूरीन्द्रपट्टस्य यथावदाहतो, भवज्जिन मज्जनुपा तृतीये ।
पश्चाऽतिशेषा मुनिसाथपेऽस्मिन्, स्वप्नेऽपि नेमेऽन्यमुनीश्वराणाम्॥१४॥

आत्मणमोक्ष परिभावयन् गण यथा निधत्ते सुगुणास्तु शिष्यान् ।
निष्पाद्य पट्टे प्रतिभासमाना्, विधाय कार्योऽन्तगत समाधि ॥१५॥

एवविधान् गणधरान् विविधप्रकृत्या
भक्त्या समन्य गुणगाननिबद्धलक्ष ।
आज्ञाधरो भवति दासनिकृष्टरूपो,
जैन स एव जिनशास्त्रधरै प्रगीत ॥१६॥

इति तृतीयोऽध्याय ।

---

## । चतुर्थोऽध्याय । ( उपाध्यायाधिकार )

गमैदुपाध्यायपसन्वितान गुरु-नाचायपदृस्य गदृक्रपा ।
क्वचिद् इव मि तमा वचिनो, पदद्वय धारन्तऽपि कश्चिग ॥१॥
गच्छस्य तप्ति निखिन्ना निन्धु-गचायनियुक्तिधग यतोऽस्मी ।
प्रवतर मस्थविर गणाय-उत्र गणि चापि नियोनयन्ति ॥२॥
यन्या मुनीन्द्रा इव साधुरयै-पर्यायत स्तुर्यदि या विशिता ।
पञ्चातिलोया अपि मन्त्यमीषा, गणशयन मयकरा गणस्य ॥३॥
स्याप्यत मस्था कुशलैपिणा विना साध्य च नस्या स्वचित्तु नराणाम ।
कयाप्यत जिम न मयापि मस्या, फल तकन्धानमन्तरण ॥४॥
सन्वालशाना मतियाश्रियाणा, मौन्यमिद्धशा पन्मापयतऽस्या ।
अनिश्चिताभ्यन्तरन्ला उ नस्या, पन लभेतु ग्रहयालयोऽपि ॥ ॥
छात्रा यथा मातुनग जिनेशा-श्रितेऽत्र धम यथाप्रकाग्त ।
सत्र नियायुगमुगाभाषा, मगापयन्तीप्रवन्नाय नानित ॥६॥
नपा यथा कौशममृद्धमाया धान्त आत्माऽन्यविमागोप्तना ।
अह्नादिगग्रामम नधाति, जनाऽन्यविशपु स याचक स्याा ॥७॥
विनानिनीत सतत स्वधिना विना प्रमाद परिशीलते य ।
स्वाध्यायलीनो गतमत्तभाव, स्वध्यत्यमौ वाचक आगमेपु ॥८॥
तु ग्यानि मौम्यन युतानि चिन्न, आख्याय सुम्यो भरतीह नद्वद्
मुनीश्वरभ्यो जिनगाम्यमद्ध, समर्पय तुष्यिरयाचकस्य ॥९॥
स्यादृनाऽऽगमसुगायुपाङ्गा-पपानिशादीनि स्नद्वये च ।
पदृछमृती स्न वीणगानि, मूलं चतुष्क धरताद्वयुद्धि ॥१०॥

राष्ट्रस्य भारमखिलं प्रजयाऽऽयतीशो-
ऽमात्यो यथा वहति भूतिकरो नृपाणाम्।
श्रीवाचकेन्द्रवितताखिलगच्छभार
सञ्चालनेन जयमेति मुनीशराय ॥११॥
रत्नानि राजकुलरूपमहासि जाते,
शस्यानि तं यमि भवन्ति गुणान्वितानि।
जीवादिसाधरवहनानि पदानि सन्ति,
श्रीवाचकाविक उदारतराणि मन्ये ॥१२॥
सूत्रानुयोगकृतिषु प्रवरा पतन्ति,
पादेषु विघ्नविजयाय कृतक्षतायें।
वृद्धा जिनेश्वरमुनीश्वरसङ्घतेषु,
वशस्य वाचकततेरपि शुद्धि (शास्त्र) सिद्ध्यै ॥१३॥
अनुयोगधरा परमेष्ठिपदं, विधिसिद्धपदान् प्रणमन्ति मुदा,
अनुयोग इहास्ति जिनेशततो, वरिव्रतति दक्षिणतो भरते।
अनुयोग इह गुरुस्कन्दिलम मुनिपादिपदा ममसत्रगत,
नागार्जुनसूरिवरेण ततो नमति श्रद्धाञ्जलिक सुजन ॥१४॥
शुभवाचकवंशगता मुनिपा, विदिता जगति ख्याति (सूरि) प्रमुखा,
वरनन्दिकरोऽपि च नन्दिकरो, वरवाचकदेव इहैव मत।
आवश्यकमाश्रित मुनिपैरुदगमुखभवितये क्रमतो,
नन्दि पुनरध्ययनीयपद, सफलेऽप्यनुयोगविधौ यमिनाम् ॥१५॥
यथा मुनीश सकलेऽपि शास्त्रे, बिभर्ति मुख्यत्वममानमाश्रित।
तथैव मुख्या ननु वाचकेन्द्रा-स्ततो भवज्जैनवरो नतस्तान् ॥१६॥

इति चतुर्थोऽध्याय।

---

। पञ्चमोऽध्यायः । (साध्वधिकार)

यन्दृत साधुगणमुत्तममस्त्ववत्त,
तान प्रम सहन्तनि ल्लना तनूनम् ।
गाष्ट्र सुराग्रमभितोऽस्त्रवृद्धिहेतु
ज्ञातेयमर्थनिचय च जहौ स धीर ॥१॥

भ्रान्ति भवपु जननान्तकभारभुग्ना,
नि सत्त्वसारशरणामनिरायरूपाम् ।
ज्ञात्वा शरण्यमर्हत्कथित सुधम,
पाप ममत्वमधम परिहृत्य न्घे ॥२॥

सम्यक्त्वबोधचरणानि शिवैकहेतो,
सात्त्वयोगनिरमेण युतानि धृत्वा ।
सान्त्वयोगनिरतात् सुगुरोश्च यान-
ज्जीव बभार नयरा शिवसाधनेन्द्र ॥३॥

अर्थापार्जनमुज्झित विरतितो मूर्च्छापदात् सोऽस्तिमाँ-
स्त्यक्त पापपरायणैरमहितो रौद्रावचित्तोद्धुर ।
जायन्तऽपचया विहीनमयते धमस्य चेतयात्वण,
सङ्गात्तत्परिबुद्धय शान्तमनसाऽसङ्गोऽभवज्ज्ञानवान ॥४॥

सम्मूर्च्छिमाऽमितमनुष्यविनाशहेतु,
पञ्चाश्रवभजनरा नवलक्षमाना ।
हृयन्त उन्नतनरैर्मिथुनेऽत्र तस्मात्,
नयाज्ज यापिन्यन सकलाघशान्त्यै ॥५॥

प्राणा धन व्यवहृतौ नियतोऽस्माना,
मोहु न हस्त्यमपहारस्त तु नहि ।

मत्वत्यमा परिहरन् महधारणार्हं,
मन नन्त (इदन्त) मपि वस्तु समस्तयोग ॥६॥

भूतादिनिद्रमुख निनहादसत्य,
मसारसागरमनन्तमुपेत्यमुष्मात ।
पापप्रधानमखिलाऽऽगमनिन्श्रक्य,
नत्राद्रियेत शिवसौख्यमना कदापि ॥७॥

मर्णाण्यघानि क्षणनोऽपहृतौ पटूनि,
थार्याणि सम्प्रतिनराणि विशुद्धमन्ति ।
मुस्त्यैकमाग उन्ति मनुषा विनाशे,
तयाज तत परवध त्रिविध त्रिधा य (ऽसौ) ॥८॥

हिमार्गिना यमाऽसौ प्रतिकलमुदयी मात्स्यप्रासु चेत् स्या-
द्रत्यास्ता नैव यामाशनकमनवसा ध्यानपाठौ मवताम् ।
नैव मर्वमक्ष प्रतिदिनमविता सुन्दुनत्तमौनुवर्त्ता,
यावज्जीव च शुद्ध प्रतिवहति सन्ध्याममाप्तु शिर म ॥९॥

सुक्गाणि भवयुरिमानि जने, श्रुतवाक्यमनुश्रयसा सुनि
मतपटरनया गदितानि बुधै-यदि र नि नीय (

॥

निरिवलव्रतिना हत्य हाननं
नहि हास्यत गतदनश्चये

न ऽलम
श्रमणत्वमनुत्तममायतने,

स्वयं साधनं चेन्न शुद्धं दधाति, परो हिंसनादिं प्रकुर्यात्तदर्थम् ।
स्वकीयेतरं नास्ति भेदो वधे(ध)न-दृगार्यामनादिं व्रती स्यात्तु सद्यः ॥१३॥

भवेच्छद् व्रतानां मुनीनां च यत्ना-द्धन धर्मपात्राणनुपालकं तत् ।
धरन्नैव हिंसापरीहारहेतोः, पल्यङ्कमुख्यं मुनिराट् तु किञ्चित् ॥१४॥

यद्वद्यथाऽगारवतां तु सेवा, सुखाश्रये तद्वदगारिणिभ्यः ।
मत्वेति नैवावसनं गृहेषु चरेद्गतिमत्क्षिसुखासितस्तु ॥१५॥

साधनं यदपि नाप्यते यदि, पापकृन्मुनिपदस्य चारित्रे ।
अन्तरं करोति पापसङ्गमं, साधनं त्यजेत्तनोर्विदन् पृथम् ॥१६॥

निपातितोऽधमन्नतं निवर्ततेऽधमसाधनात्,
शरीरसत्क्रियात एनसा पदं विनिश्चयात् ।
विदन्निति स्वकमभदममयत्नो मुनि-
रतमं सन्दधाति मत्सु संयमाध्ययापनम् ॥१७॥

एवंविधान् मुनिवरानशनाम्बुवस्त्र-
पात्रौषधादि विधिना प्रतिलम्भयन् सः ।
देवार्चनादिनिरतः परमेष्ठिभक्तः,
स्याज्जैन एव करुणानिधिरात्ममार्गे ॥१८॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

---

## । षष्ठोऽध्यायः । ( दर्शनाधिकारः )

महिता दया ध्याता सिद्धा यतीशः उपासिता,
विहिता सेवा श्रावकपन्थोर्मुनीशपदोचिता ।

मुक्तेरिच्छा चेन स्यान्तेऽखिल मृतमण्डन,
विदिताऽस्यान्त सतसम्यक्त्व मुनैन उदीरित ॥१॥

आगमवाचो यस्य श्रोत्रै श्रुत्वा शिवकामना,
स्यादुत्कृष्टा भवभयभीतिर्हृदीष्टपदाप्तये ।

साधनमस्या गुरुकुलसेवानिधित्सया वर्तन,
विघ्नापेत निष्ठोपचित देवार्चनमादृतम् ॥२॥

पक्वे भावे भव्यत्वरयाऽसमे सुखदायिनि,
भित्त्वा ग्रंथि कश्चिल्लभते भवी शुभभावन ।
यल्लब्ध्वा स्यात परिमितभूतिर्नरः शिववत्मग,
पतित न स्यात् सत्सम्यक्त्व कदापि निरन्वयम् ॥३॥

मत्तो विघ्नो मूल सदृग् योगनिनकायतोऽ–
पगते विमर्दे विनो विघ्नो न वै जडतान्वित ।
भ्रष्टो दृष्ट कालमनन्त निगोदमुपाश्नुते,
प्राप्ते भावे सत्सम्यक्त्व ध्रुव धरतीप्सितम् ॥४॥

वर्त्मभ्रष्ट सद्भाग्य स्याच्छुभेऽध्वनि निश्वसी,
दृशस्याण्या इतरस्त्वितरे न चाद्भुतमत्र हि ।
सम्यक्त्वी स्याज्जिनमागार्त्तो न परत्र कदापि हि,
विभ्रमभोक्तो नित्य मिथ्यामति पुनरत्र न ॥५॥

लब्ध्वाप्येतद्योगात् कुगुरो श्रद्धाधनरञ्जित,
अज्ञानाद्वा हीन स्याद्वाऽन्यथाऽनृतबोधताम् ।
वप धम जैनार्गीणे चरन्नपि धिक्कृतो,
इय सुधिया माग निघ्नै ममो निनधमिभि ॥६॥

योऽष्टाददाभिना पयुक्ता अधोऽसम पुन ,
स्रीदाक्राक्षैयुक्ता मुद्रा धरन्ति भवप्रनाम् ।
नैते न्या सार्थारम्भा न चापि गुरा प॰,
हिंसायात्मा धमा नैवाजित दृशमुन्चलाम् ॥७॥

स्यात् मम्यस्त्व पञ्चविभेद मुम ह्युपशान्तिन,
घटिकायुग्म सप्तप्रकृतीर्विनाश्य पर पुन॰ ।
क्षायिकमितरन्मिश्र मिश्रान् पडावलिका पर,
साम्यान स्याद् वदन्मते मिश्रान् परमारितम् ॥८॥

जैन वचन श्रद्धत्ते यद् निशयविरर्नित,
गतमिथ्यात्व स्याद् द्रव्यण सम्यस्त्वयुतोऽसुमान् ।
द्वारे मते गत्त्वानीना मता द्रढभ यतो,
भावात्तस्य स्यात सम्यस्त्व कदाग्रहनिगत ॥९॥

प्रत्यक्ष तत्सम्यस्त्व स्यादतीन्द्रियवदिनो,
लक्ष्य बुद्धेरास्तिक्यै स्वमात्मगतीप्सितम् ।
जीवऽन्यस्मिन् शुद्धपार्थै प्रमीयत आन्तरान्,
नेत्र धर्माधर्माख्यान भवाभवनेदिन ॥१०॥

पञ्च्या युक्तं सम्यग्निरश मना श्रुतिहेतुक,
निश्चयपक्षऽ सर्वे स्यात्गुन प्रशमादिभि ।
चिह्नैरिद्धि पक्षेऽन्यस्मिन् युत विकल्पैरपि,
प्राप्ते तस्मिन् स्याद्मामाना ह्यतिसूचिता सताम् ॥११॥

नान्य धर्मा पोढा जीवान् कदापि तु मन्यत
हिंमा तपा तार्थे युक्ता स्थिरेतनीरगा ।

तत्तस्मिन् स्याद्धिसानियमो न वै परमाथत ,
सत्याद्यान्यप्येव तेषा ततो व्रतमाहतम् ॥१२॥

जीवाजीवो निश्चे सत्ता सदा धरतोऽन्वयात,
हया माह्या के केऽत्रेति प्रधारणसविदि ।
तत्त्वानि स्यु सप्तेत्यत्र प्रमाधनबाधने,
पुण्यापुण्ये भिप्ते मान्या युदाहरतो नव ॥१३॥

एतद्यो धरतेऽमुमान् दृढमति स्वप्नेऽपि नान्यान् सुरान्,
धर्मांस्तद्वत आदरेण मनुते ससागर्तागतान् ।
सर्वत्रेक्षत ईप्सितार्पणकर जैनेन्द्रधर्मादर,
सोऽवश्य शिवमश्नुतेऽत्र यदि वा जन्मान्तरे निश्चितम् ॥१४॥

अनन्तशो ग्रैयभवानवाप, महाव्रतानां धरणप्रभावात् ।
न प्राप पार यदसौ स एव, लब्धाऽद एतीह प्रभावतोऽस्य ॥१५॥

लोके यथाऽऽश्वासपद हितेच्छा, मुमुक्षता धर्मधरे तथैव ।
सम्यक्त्वरूपा निरघा न चेन् सा, सर्वोऽपि धर्मा लवणाम्बुसेक ॥१६॥

एतल्लब्ध्वा वमति यदपि प्राप्नुते मोक्षमार्गं,
बीज क्षेत्रे फलति रुचिर योग्यकालेन सम्यक ।
सामग्र्या तु प्रभवति न फल बीजशून्य हि जातु,
ज्ञात्वतत्त स्याज्जिनवचनरतो य स जैनो न चान्य ॥१७॥

इति षष्ठोऽध्याय ।

नयाश्रतामधिगत पृथिवीसुरेषु,
भ्राम्यन् प्रकषमयते तनुजातबुद्धे ।
जिह्वादिजातमयतऽत्र नियोधभाव,
प्राप्य प्रस्पनियत निरूपाभ्रभावम् ॥६॥

भ्रमोऽयमुत्क्रान्तिगतोऽमुमत्सु, ततो मतेर्भित्सु मतोऽयमुत्तम ।
सञ्ज्ञी मनोलब्धिमुपाश्रितोऽस्ति, स्वे पञ्चमियुक्त उदित्वर स्यात् ॥

स्वबुद्धबोधाय परे प्रयुक्ता, वाणी पदार्थव्यवहारहेतो ।
श्रुत ततस्तत्तत्र ईरित वर, शिवादिबुद्धचै भविना जिनेन ॥८॥

ज्ञात्वा तदुक्त परमार्थबुद्ध, तीर्त्वा पर तत्र स्वकशासन जगु ।
अज्ञानतस्तोऽस्यनुकारदस्या—स्तल्लौकिक गोचरतीतरूपम् ॥९॥

लब्ध द्वयेऽस्मिन् सुगुणे भवेद्धि, त्रय समक्ष न विना कदापि ।
नय ह्यवध्यादि भ्रमाद्धि लभ्य, न केवलान्तरित परो हि बोध ॥१०॥

अरूपिबोधात्म परोऽस्ति बोधो, द्रव्याद्यकाला महिता स्वभावै ।
ज्ञात्वा समस्तान् प्रतिबोधयोग्या—नारयन गणिभ्य श्रुतमुत्तमह्यम् ॥११॥

श्रोता(श्रा)नुगुण्येन विभक्तमार्हतै—द्वय प्रमाण तु पुरा समूहितम् ।
मत्यादि पूर्वं परबोधधर्मै—द्वयत बुध्यत तत्रैव वान्यम् ॥१२॥

ज्ञानिर्विमुक्तेषु न युक्तियामि-ज्ञानरूपेण तदत्र तेषाम् ।
फल ह्युपेक्षा भवकेवलाना, मत्यादिबोधेषु फल महादि ॥१३॥

जीवादितत्त्वार्थमति प्रशस्या हानाऽऽस्युपेक्षामिरयेत प्रबोधम् ।
यत प्रवृत्तो दुरित न नश्याद्, यतो भवेत् साधुमतरसूनाम् ॥१४॥

अङ्गोपाङ्गादिरूप बहुविधमुक्ति सन्दृब्ध श्रीजिनाग–
स्तीर्थस्याधारभूत श्रुतधर गदितमीदृग्रूपो हि नाम्नम् ।

आचारेपु स्थितात्मा विधिवदनगतिं धत्त ईप्टेऽप्यनिष्टे,
तम्यास्तेन्यत्स्तुतिर्या भवति जगति वै सा तु मिथ्यात्मरूपा॥१५॥

आचार्योदिपदावली गुणवता देयेति शास्त्रोदिति ,
सवत्राऽपि गुणेपु तत्र गदिता काष्ठा त्वपावादिनी।
सा नैवात्र पर श्रुतार्थधरणे, साऽऽवश्यकी धारणा,
शास्त्रेतत परमार्थशास्त्रविनिर्या जैनो भवत सवदा ॥१६॥

इति सप्तमोऽध्याय ।

---

। अष्टमोऽध्याय । ( चारित्राधिकार )

जैन स्यात् पापभीरुस्तत इह मनुते पापमुक्तान् मुनीशान्,
यो यत्र प्राप्तमोदो भवति गुणपरेऽसौ ध्रुवमय पर तत्।
स्वेतिज्ञातशास्त्रो गुणकणरहितोऽप्यर्चतीष्टान् मुनीन्द्रान्,
शास्त्रे जैनऽत्र तस्मादघततिविरता माननीया परेशा ॥१॥

अनादितोऽसुमानय चिनोति कर्मसन्तति,
शुभाशुभप्रयोगतोऽव्रताच्च सवदा भवे।
विबुध्य तद्विरामभावसारता श्रिय पर,
श्रयेन्मुनिश्चरित्रभाक् शिवाप्तिसाध्यचेतन ॥२॥

चारित्र हि तदत्र यत् परिहरेदुष्टा क्रिया सर्वथा,
शिष्टा योगमयुत्ये न शृणुते या या क्रियास्ता सदा।
रुद्ध्वा त्वाश्रवद्वारसञ्चयमसौ सन्निर्जरायुग् व्रती,
स्यात्क्षीणोऽन्तमनन्तमानसरुचि सद्धान श्रिये स्वाश्रयो ॥३॥

चारित्रमादृत्य जिना समस्ता, उपानयामासुरुदग्ररूपम्।
सत्केवल तीर्थनिरत्तना तत-श्चक्रुस्तथैनान्तमुक्तिभावा ॥४॥

मुक्तेर्हि मार्ग प्रवर चरित्र, स्वलिङ्गमेतद्धि शिवाङ्गमन्यम्।
जिना न गृह्णन्यदशास्नत स्व-लिङ्गेन सिद्धि समुत्सर्गमार्ग ॥५॥

पथि स्खलन्त वरसेवधीश, दृष्ट्वा न धर्मे स्खलनानि कश्चित्।
भाष्यन स मार्गा निखिलाभसिद्धे-स्तत्रैव गृह्णन्यदशे विमुक्ते ॥६॥

पापेभ्यो विरता भवन्ति पदान महद्रथामतीता पर,
मर्नेभ्यो न परा चरित्रपदवीमापुयतरस्तत्र नो।
इन्द्रागारमुसा शुभानुगदिता शाख्न यतीना सदा,
सामाचायुपपान्न त्रभवे तस्या भवेन्निश्चितम् ॥७॥

यत् प्रोच्यते जिनवरैर्गदितेऽत्र शास्त्रे
सच्छासन प्रवचन च सुधात्रहाभम्।
चारित्रमेव न पर जिनपा समास्तद्
स्मान् विधित्सव इत्य फलमाप्नुवन्ति ॥८॥

ईर्यादिका त्रिगुप्तिमता प्रवचन या मातरोऽष्टौ तका-
श्चारित्र जनयन्ति पोषणमलङ्कुर्वन्ति तद्गोचरम्।
जात पुष्टमभिश्रयन्ति चरण ता मर्वेगा पालना
मात सञ्चरण तन्त्र गदिता सत्याभतका मातर ॥९॥

पापाश्रयाणा निरतश्चरित्र, भवेन्नहि स्यात्प्रयोगवृत्ति।
ममुद्रवर्ती चरणी हि तिर्यक्, तद्दान कायान्मिता सुवृत्ते ॥१०॥

ज्ञान मज्ञानरूप निरतियुतमल नान्यथा तेन युक्ता,
मिथ्यात्वऽज्ञानमात्रा सन्सदुभयगा नेह बुद्धिश्च भोगान्।

ज्ञानस्यार्पं सदेन्फलममिलषित मचरित्र नराणा,
ज्ञानेद मा भवन्तु प्रवरगुणधरा मच्चरित्रेण हीना ॥११॥
श्रामण्यपर्यायमधिश्रिता या, सुम्यासिकोक्ता परिवधमाना।
मासक्रमेणोपरता तु वर्षात्, तथा न धोधैस्ततोऽश्नुते धे ॥१२॥

ज्ञान तु दर्शनयुत त्रितये गतीना,
नैवास्ति तत्र परम पदसिद्धरूपम्।
मानुष्यके नियतमतस्त्वाप्यते त-
च्चोनश्चरित्रमहिमा जिनमागमार ॥१३॥

यद्यपि मधुरमेन्तयेन, चरण गदित तदपि तपस्तत्।
अधिसहन तत्प्रतिपदमत्र, केवलमेव न तद् विरतिर्नु ॥१४॥

गोत्र नीचमपैति यच्चरणतो यधो भवदुच्चक,
प्राप्तौ तस्य गतोपम अनततेमान्यत्वमभ्यागतम्।
रङ्कोऽप्यस्य यतादरात्तुलयति स्व चक्रिणा सत्तत,
गोत्र प्राक्तनमथक्षर हि भवन्चारित्रलक्ष्म्यावृते ॥१५॥
तार्थस्यातुल एव उर्जिततरो गीत प्रभावोऽसमो,
यत्सर्वाऽप्यधिकारयाञ्जिनपदेऽस्याऽऽराधनाया स्फुटम्।
एषोऽह जिनवामनाप रुचिरा तत्मे गतिस्तत्प्रति,
तीर्थे तच्चरणान्वितो मुनिगण सेपास्तमेवाश्रिता ॥१६॥

लोकानुभावजनित चरणे महत्त्व,
ज्ञान चतुर्थमुपयाति विना न यत्तम।
लोकेश्वरा अपि लभन्त उपेत्य चार
वचस्तसमाचरतु जैनवर सदा तत ॥१७॥

### । नवमोऽध्याय । ( तपोऽधिकार )

ज्ञाता जीवा अजीवा परिहृत उदितस्त्वाश्रवाणां समूह,
साधित्वा संवराम्त नवतरमहणद् बन्धमोहन्त्यलीन ।
यावन्मोक्ष प्रयातु हन्यममिसरत्यन्तग कर्मजाल,
प्राग्बद्ध निर्द्रवेन्मा न खलु मयि तपस्तत्क्षयार्हं यदि स्यात ॥१॥

जीवोऽस्ति नैव, नहि य क्षपयेदघानि,
कर्माणवो यदुदय सतत प्रयान्ति ।
निर्जीयतेऽघमुदित भविना मता। सा-
ऽकामा, न सा खलु शुभायतिराप्तमाग ॥२॥

तत्रापि योऽल्पमुपचित्य बहु क्षिणोति,
सोऽभ्येति कमलयुताप्रभवा सुरूपाम् ।
काष्ठा तत क्रमगता तु यथाप्रवृत्ता,
लब्ध्वाऽपि ता शममुपैत्यमुमान् कश्चित् ॥३॥

लब्धे शमे परत आचरतीह कश्चित्,
शुद्धे मद तप इहात्मसुवर्णशुद्ध्यै ।
सैव सा भवति कामयुता प्रशस्या,
सन्निर्जराऽन्ययपदापणसाध्यरूपा ॥४॥

भृगुप्रपातादिकमाचरन्तो, हन्यन्त उद्धारहृदो भवाब्ध ।
प्रयान्ति नैवाश्रयण त्वमीपा, कुबोधवन बालनिमग्नचेतसाम ॥५॥

उदाहृत बाह्यतप शमादे, प्राप्तौ बुधैर्हेतुतया यदत्र ।
तदुत्सवाग्निरिव साधनाप्तौ, क्षम भवेऽनन्तग आन्त यत् ॥६॥

तपो भवदुत्तदुर्गतिचरा सिद्धय जिनाय्यन्यमाध्युदधा ।
सूर्यस्य मन्यातय इव रूपा, भित्तोऽस्य माया इर्यपिता नैव ॥७॥

अनशनादिविध तप आहते, भवति मोक्षपदाय द्वादशमनाः ।
अयनयुग्ममिवाऽन्य भिदाद्य स्वविधाऽसि तपो बहिरान्तरम् ॥८॥

आदौ पर्व पूर्व पूर्व, पाये मार्गोत्तरो णम ।
पूर्व पूर्व पान्ये पर्व, पदृष्टेऽन्यथमिमान्तरमेतत् ॥९॥

पन प्रसण वृजिन क्रियाम्या, मिथ्याऽप्रमत्ताधगुप्ताभिताऽङ्गी ।
तन्वैव अयैमय नपोऽयितत, सुगवरणोत्पन आत्मबाधा ॥१०॥

ज्ञानाश्रितो हि भगवानपवर्गसिद्धि,
नानाति निश्चितता निचये भविशीन ।
गीत्र प्रकार तप आत्महितैर्विभावान,
काय न आत्मवरण तप तप सद्धि ॥११॥

मोह निनाय जिग स्वभावमात्र
सर्वापनाशनपरा भविनीमिताऽऽनि ।
प्राप्यापि कैवल्यमनुत्तमयुत्तरूप,
यावत् पर तप श्रीनि न विमुच्यतेऽङ्गी ॥१२॥

अशेषितान्यिकन यानि जनुना निकाचिता—
न्यथानि तानि भस्मगान करात्कर्मो तपो धृते ।
योऽन्तराष्ट्रनिर्दिशा तनोति ताहगद्भुतां,
विनाशमाप्यन त्रुणो न भेषमन्तराऽद्‌भुतम् ॥१३॥

न धेनप स्याद्न्नोपमान, भवद्भवकर्मेन्धनदाहवक्षम् ।
कथ विरातानदृहाद्आलि, विस्यल, मुक्ति प्रगुणेन्ध साधु ॥१४॥

तप चिणोति चेद्य पुरा भवार्जितं नहि,
पथ प्रमुच्यते जन कृताहमा प्रमादू भुजे ।
अनुद्बोधसन्ततिर्न कमलागमन्तरा,
यथैव आत्मवीर्यज तपो हि नान्यथा यत ॥१५॥

ज्ञानं समपदार्थसार्थगमन यावद्भवेत् पत्रल,
चारित्र विगतातिचारसुभग यावद्यथाख्यातिकम् ।
आगान्तुद्दुरितौघसम्वृतिकर स्थाने कपाटो यथा,
प्राक्चीर्णाघसमूहमक्षयकर शुद्ध तप पावनम् ॥१६॥

सत्य तपोऽस्त्यसुखरूपमिद तु निश्चित,
कर्मापसारणपरे मुदितात्मताऽत्र ।
कोटया ऋण विनयते ददताऽल्पमेव,
(जन्तु) लाभस्ततश्च भविता घूर्णितौघनाशात् ॥१७॥

सत्य दुःख न भवति दुरितोद्रेकशून्य कदाचित,
कर्माभावो मनसि समित प्रेप्सितस्तद्धि धर्मात् ।
यावन्मोक्षो विमलनसहितो जातिमृत्योन जात-
स्तारतम्य दधति मलिन तत्तपो मुक्तिहेतु ॥१८॥

यावान् कश्चिज्जगति जनित कर्मजाल समग्रो,
नैवोत्थान जननविगमयो पापसङ्घ विना स्यात् ।
मन्त्राऽऽपत्तर्विलयपटुता मन्त्रघात्या तरऽस्या ,
कर्माणूना विलयनपटुता तत्तपस्येव साक्षात् ॥१९॥

मोक्षो भवेद्भवभृता समये तु यस्मिन्,
तस्मिन् भवेत् तपस एव परानुकम्पा ।

स्वेऽप्यशेषगुणजात इय न यावत,
तावन्न मोक्ष इति सन्महिमाह्नमेतत ॥२०॥

यदर्ज्वाला वर्मकाष्ठालिदाहे मेघो ऽयो ज्ञानमुख्याऽऽयतश्याम्।
ममाराण शोषणेऽगस्तिरूपो, निराबाधं मत्तपोऽस्त्युस्तरूपम् ॥२१॥

भाव शुद्धो विमलमनिमता, दानमप्यादरादय,
शस्य शील मदनहृतिकर वाक्पथातीतभावम्।
धर्मस्यैपाऽपनिचयहरणी शुद्धगङ्गा त्रिमार्गा,
यात्रास्थान तप इह गतित सत्रयागामभेतन् ॥२२॥

एवविध तप उदारधिया प्रशस्य,
मत्वा निरन्तरमिहाचति सद्व्रती य।
इच्छेन्दोऽयुपरताघसमूहमग्य,
जन स एव ननु मोक्षपर्कलस्य ॥२३॥

एव नवपदविमला बुद्धि घत्तऽत्र देवभिदि युग्म,
भेदत्रयमथ सुगुरौ निर्गणपे क्रमाध्ध्यपरम्।
पूज्या परमपदयुता इमं सहाराधनीयता युक्ता,
धर्मचतुष्कयुता नवपदी मना सश्रयेज्जैन ॥२४॥

इति नवमोऽध्याय।

---

। दशमोऽध्याय । (जीवाधिकार)

जागर्ति जैनत्वमनुत्तर तद्, यत्राऽस्ति पूज्या परमेष्ठिन परा।
आराध्यताऽन्या नवपदनुश्रिता, जीवादितत्त्वानि नवैव चित्ते ॥१॥

सर्वेऽप्यास्तिक्यता भिता मतधरा जीवं परं मन्वते,
षट्कायाश्रितमङ्गिनं यदि परं जैना सदा मन्वते ।
ससार सरता भिदा दशचतुःसङ्ख्या हृषीकादिगा,
नैगोदान् भवधारिणो गतमितीन् जनो भवद् धारयन् ॥२॥

औदारिकादिपरिणामतया तनूनां,
भूम्यादिषु प्रकृतिभेदमपि प्रयाति ।
अन्नादित प्रभव एव तनुस्तथापि,
नृणां समस्ति नहि चेकविधो गृहीता ॥३॥

क्षित्यम्बुवह्निमरुतो वनकाययुक्ता,
पर्याप्तभावमयिताश्च परस्वरूपा ।
एकेन्द्रिया क्रमगते करणाधिका स्युः,
अन्त्ये मनोऽमरा उदितनरपञ्चयन्त ॥४॥

जीवा समस्ता अविभिन्नरूपा, मनःक्षतानि सहिता गुणैश्च ।
कर्मावृता मसृतिसारिणः स्युर्वैचित्र्यभोगास्तु विभिन्नयोनौ ॥५॥

विशेषशक्त्यन्वितजीवघाते पापस्य बाहुल्यमतो मनन्ति ।
ततस्त्रसाना वधतो विरामोऽनिवृत्तपञ्चादिवधस्य योग्य ॥६॥

नृपा प्रजारक्षणतत्परा यद् धनं च राष्ट्रं च तदुत्तमाय ।
गत्वान्य साधनमभ्यवन्ति, महाजनास्तद्धनमाश्रयन्ति ॥७॥

कृती विसम्भार इहारतस्तु, त्रसं पलन्तं जीवरूपभाजम् ।
अतोऽमरैतद्वधपापमन्ता हहा! परं स्वल्पमुशन्ति जीवम् ।
(षट्पलापिनस्त्विमे) ॥८॥

वधस्त्रियोगान्वितसत्क्रियाभिस्तदुत्थमहः शुचितामुपैति ।
त्रियोगजातानयमप्रमादा-स्त्रेधा कृतीश्च्या धनगोप्यमाहुः ॥९॥

मत्स्यप्रयेभ्यो जायन्तघातान्, महत्तर पापमुशन्ति विज्ञा ।
आत्मोपमानेन सुख् समाचरन, परन्तु येण जिनमागमग्र ॥१०॥
स्वकीयपापैन भवन्ति दुःखिता", ममारिणस्तत्र इदुरिणकार्ये ।
यस्यास्ति पृत्ति स ददाति पाप, मत्वनि हिंसाविरतो हि जैन ॥११॥
सुयोक्तिमुख्यान्यपि जैनमार्गे, मतानि पापा यथमोऽस्यानि ।
पर प्रतीकारनिवृत्तिहीन, हिंसोत्थमेतद्यनिदुरनरान्तम ॥१२॥
कमाग्रता निमन्त्रभिन्नो जना, दयान गुरूत धर्मपानि नित्यम् ।
सेवन्त आदरतया स्वपाति, यथा प्रदीपाप्रदीपजन्म ॥१३॥
"यस्यास्ति भूत नहि जैनमार्गे, क्वापि तत्त्व स्वगुणापद न ।
निमित्तभावन गुणान्वितत्वान, पर्यन्ति सेवाभिरिणा नराणाम ॥१४॥
स्नेहानुभावान्वितभव्यताया, योगान पवायनमुपत्य चान्तरम् ।
आलम्ब्य दयान् गुरुधर्ममुख्यान, मत्वा समन्तेऽस्ययधाम यथम ॥१५॥
यान्न मोक्ष गतयन्न इष्टे , सुमाधीयें ननु त यान्ता ।
भवो न तेषा, गमिताऽर एव, जीवानानन्तान गुतस्ज आप्त ॥१६॥
सूयमवार प्रत्येन वार्ये , क्षय प्रकल्पेत यथा न विश्व ।
राशन सर्वेष न मुख्दमाना, असङ्ख्यमागप्रमिता निगोदान् ॥१७॥
अथाः परे जीवविहिंसनादिकार्ये समुत्पत्तिमुशन्ति भर्म्याम ।
रक्षापरा ज्ञानमुख्यचरित्रे जैनास्तवमेऽपमो रगामिन ॥१८॥
भूताद्यो नैव जीवा, न च समुत्यजो, नैव भागोऽस्यमत्को
नावर्गो मोगहीनो न च, न च फलितोऽज्ञानमूर्त्यो न चाय ।
मिथ्याभूतवृन्दात् न न परभवगो नैव जातो न जातो,
प्रत्यक्ष चैतन्यधर्मैन निरपदपरमान जैन आख्याति जीवान ॥१९॥

इति स्माप्यान ।

। नवान्शोऽध्याय । ( अजीवाधिकार )

जैन सदा मनुत आत्मविभिन्नरूपान्,
धर्मतराभ्रसहितान् विविधाणुसङ्घान् ।
जीवाणुसङ्गम इहानुविशेतु मुक्ति,
मन्येत लोकमितर प्रमतश्च चेद् ज्ञ ॥१॥

धर्मो गतौ भवति हेतुरिहाङ्ग वणूना,
तेषा स्थितौ प्रभवधान् इतरो ह्यधर्म ।
अथ तृतीयमवकाशमथो ददाति
वर्णादियुग्मिह नास्त्यपपुद्गल तु ॥२॥

भवेयुस्तणुभ्योऽङ्गवाङ्मानमादि–
सुमौक्ष्म्यादिय धा तयुक्तास्त ग्र ।
द्विधा तेऽपन स्कन्धरूपा ह्यनन्ता
हि द्रव्याथनाभेन्युक्त अनाशा ॥३॥

अथ जीवे पुद्गल चास्तिकायऽन ा अणा एक जीव स्वमङ्ख्या ।
धर्मऽधर्म पुद्गलेऽसङ्ख्यकास्तु, काला न्य मानुष लोक ग्र ॥४॥

यान्याणा गगनगमनचारिणोऽत्रास्ति भागे
घस्त्राणामन्द्भुत इह मता कालभागास्तथत ।
धृतिर्नाम धृतिरधिग्ता सस्ना सस्भागे,
कालस्यैषोपद्रतिरपरा स्त नैयास्थित ? ॥५॥

प्रतिक्षणोपादविनाशशाल्या–यस्थास्वरूप सकल हि वस्तु ।
त्रिभि स्वरूपैग पदाथण, त्रिभिस्तरीरा अपि तत्स्वरूपा ॥६॥

परे कुतीर्थ्या प्रतिशोधशून्या, नच प्रवीणत्वमुखा क्रिया हि ।
अर्थेषु साक्षात्सकलेषु पश्यन्त्यपि प्रवाद न यदन्यनेकम् ॥७॥
सत्त्वेव सर्वं जगतीह वस्तु द्रव्यप्रमुखैर्निजपर्ययैः स्यात् ।
पराश्रितस्तैरसतां नाम, विशेषभागोऽस्ति विचक्षणानाम् ॥८॥
नामाकृतिद्रव्यपदार्थरूपै, समन्वितं सर्वमपीह दृष्ट्वा ।
नैरीकरोत्यप च कुतीर्थ्य, स्याद्वादमुद्रांकितपानि वस्तु ॥९॥
सत्त्वं पदार्थे सहजं न चान्य-सम्बन्धभाजि प्रसिते गुणत्रिये ।
तुरङ्गशृङ्गेण समानमन्य, सम्बध्य तद्वन्तमुदाहुरथम् ॥१०॥
विचित्रभावा खलु पुद्गला समे, जीवप्रदे सन्ति विधा प्रसिद्धा ।
औदारिकाद्या अमिता परा हि, स्वयं क्रियावन्त स्मापतन्नहि ॥११॥
अणोः स्वरूपं न विबुद्धमन्यै-रनन्तभागात्मकमेव दृश्यात् ।
तद्वत्प्रदेशस्य न चैभिरुक्तं, कालस्य सूक्ष्मं समयं कुतीर्थ्यैः ॥१२॥
जीवस्य बोधं सकलं ह्यनुमहे, क्षमं ह्यदृष्टं तदिदं तु पौद्गलम् ।
आत्मायशुद्धेः स्वम आवृतीनां, क्षयक्रमे तत्त्रयमात्मभावि ॥१३॥
अजीवशब्दे परिदृश्यमानो, नञशब्द आहोऽत्र निषिद्धदर्शम् ।
चैतन्यभावप्रतिपक्षरूपं पदार्थरूपं न तु शून्यलाञ्छम् ॥१४॥
नित्यान्यवस्थानयुतानि पञ्च, धर्मादिकानि प्रविभक्तिभाञ्जि ।
रूपादियुक्तं परमाणुमुख्य-मेकं स्वयं पौद्गलिकस्वरूपम् ॥१५॥
यद्यपि चेतनविमुक्ता एते, ह्यास्पन्मेतद्विहास्मि सिद्धान्ते ।
मोक्षपथैकसहायकराणि, नृत्वमुखानि विपक्षभूता स्युः ॥१६॥

यावल्लोकं धर्माऽधर्मा सिद्धिशिला यावत्तौ च,
परलोऽलोके नहि तदभावाद् गमनं जीवाणूनां धारा ।

मृल्लेपादियुत वस्तुम्ब मजति तल धृतजलनिशुग्म्ग,
अपगतलेप तिष्ठेदुपरि तद्वन्मुक्तो भुवनतलोपरि ॥१७॥
तत्त्व द्वे जगति स्त तत्त्वात् जीवाजीवौ भिन्नाभासात,
नद्वेतारन्मात्रोक्ता स्याद्धेयाऽऽदेयविवेकामाना ।
मोक्षपथप्रथन, तत उक्ता सप्त सुतत्त्वी तत्त्वार्थोक्ता ॥१८॥
अपेक्ष्यवाद सदसत्प्रवादो, विभज्यवाद परिवर्त्तवाद ।
वादा अनवे जगतीह मूर्ध्नि, स्याद्वाद आख्यद् द्रविणे त्रिकालम्॥१९॥
एव जैनो जिनवरगदितेष्वागमेष्वेकचित्तो
जीवाजीवौ मनुजमतिगतौ मन्यते शुद्धभाव ।
एव साध्य प्रवरमतिमान् रत्नत्रय्यात्मक तु
चित्ते धृत्वा नियतमुदयवान् जैनमायाति मागम ॥२०॥
इति एकादशोऽध्याय ।

---

। द्वादशोऽध्याय । ( पुण्याधिकार )

पुण्ये भेदा भविसुरशक्तये त्रिशती द्वे द्वियुक्ते,
बन्धानुत्या यदि च भविनो ह्यानुपूर्व्ये ह्यपेक्ष्यम् ।
सम्यक्त्वाद्या प्रकृतय उदिता मर्वमेतद्धि सत्य,
जैनो जैन प्रकृतिसुभग त्वाश्रयन स्यात्पराह्णम् ॥१॥
अथामनिष्करानलाच चिनोति पुण्यमुत्तम,
निगोदत प्रयात्यसुल्लतो महिनिगोदताम् ।
ततस्ततोऽनुयात्यसौ त्रसा च व्यावहारिकी-
मुपानि सूक्ष्मबादरादिनिम्रभूमिमानताम् ॥२॥

अनन्तपुण्यलाभता ह्यकामनिर्जरावला-
दुपैति जैनली दशा प्रभावबुद्धिशालिनीम् ।
अनुक्रमेण पञ्चकं यदिन्द्रियाश्रितं भवत्,
पुण्यलाभसम्भवेऽधिकेऽत्र सञ्ज्ञितोद्भवो,
नरत्वमार्यदेशजातिगोत्रधर्मसङ्गमम् ॥३॥

य एव यातनाश्रुते पदे समस्तकर्मणां,
क्षयादनादृतो भवी भवं विहाय चोपरि ।
प्रचण्डपुण्यलाभजं यदायमश्नुते तनौ,
शुभं तु कीकसाश्रयं शिवेऽपि साधनं हि तत् ॥४॥

अभव्या अपि प्राणभाजो ह्यनन्ता, समुपेत्य मार्गं जिनेन्द्रोक्तशुद्धम् ।
प्रकृष्टं समुद्धाय पुण्यं ह्यगुरुतन्, सुधामोपरिमं यविरर्त्तमानम् ॥५॥

अनुप्तं चेद् बीजं भवति जलदो नैव फलद,
शुभेऽप्युर्वीधाम्नि प्रबलतरयत्ने ह्यपि बले ।
तथैवैषा प्राप्यं (तथा नैषा मोक्षं) प्रचुरतरपुण्यं च दधता,
सुमम्यस्त्वाभावाद्भवति शमिना तद्गुणभृताम् ॥६॥

यथा यानं ग्रामान्तरमुपगतं नैव फलद,
परं तद्वेतुस्तत्तन्वि सुकृतानां ततिरिह ।
न सा स्यान्मोक्षाप्त्यै नियतमसकौ कर्मविलयात्,
परं सौख्यं मुक्तौ भवति निजभावोपगमितम् ॥७॥

तृष्णाया नैव वाञ्छा भवति कृषिकृते सोद्भवेनिश्चयेन,
धान्याप्ते प्राग् नगला विदितमनुपमं सद्दृशा पुण्यमेनम् ।
मोक्षाय सञ्चरित्रे प्रतिकलमुदिता सत्प्रवृत्तिर्मिताना,
मत्वैवं मोक्षसिद्ध्यै सततममिरता पुण्यभाजोऽप्ययत्नम् ॥८॥

आस्तिक्यग सत पुण्य मनुते काङ्क्षासिद्धय्यै चार,
अष्टविधा न मता पुनरेषा कमण आवलिका ह्यनुमेया ।
जैने धर्म ज्ञानादीनामावृतिगमनात् साऽष्टविधा वै,
पुण्य तत्राघातिनिरुद्ध पापमघातिनिरुद्ध कर्म　　　॥९॥

वेद्य नाम्न्यायुषि गोत्रे स्यु शुभसयुक्ता अशुभास्तास्तु,
शुभा नामाद्या पुण्यात् स्यु पापात्त्वशुभा एता सर्वा ।
योगात् कर्माश्रयति प्राणी पुण्य तस्मात् सुन्दररूपात्
न निरुद्ध निरवद्या यस्माच्छ्रेणि स्वकत्वाऽनुत्तरजन्मा ॥१०॥

मन्वाना पुण्यतत्त्व कतिचन विबुधा मन्यते पापतत्त्व,
ह्रा या पुण्य प्रकृष्ट परिगतमुदयेऽस्मिँस्तथाऽल्प तकत्तु ।
नतमुक्त यतो वै परिनतनिभराग सुगम्यैव हतु–
नतन्चाभावजन्य न च दुरितहते पुण्यमेतद्धि कुर्यात् ॥११॥

पुण्य त्रिधा मतिमता गदित त्रिधा तु
पुण्यानुबन्धनतर निरयप्रवृत्ते ।
पापानुबन्धमपर जनयत्कुकष्ट ,
श्रीवीतरागपदगान्तुबन्धशून्यम्　　　॥१२॥

अज्ञो नर फलमुपेत्य भवत प्रसन्न ,
पुण्यस्य, वत्ति न तु पुण्यविकाशहानिम् ।
भुक्त्वा फल दुरितसन्ततिनाशनमत्र,
उद्विग्नतामुपनयत्यघहान्युपेत्य　　　॥१३॥

शिशोर्न जातिनरकागर्भाष्टधा,
शिशोर्गर्भोऽस्माऽपि न तत्र हेतु ।

तत्त्वाश्रितोऽस्मि न चेश्वरस्य
किन्त्वेकमेवाऽत्र मतं हि धर्म ॥१४॥

आत्मस्य मोक्षे सहितस्य कश्चित्, पुण्यं करोति प्राप्नुत इष्टदायीम ।
पराऽपरस्मिन्नपि मत्र युक्त्या, क्रमश, हेतु प्रवरोऽस्मि कश्चित् ॥१५॥

अध्यात्मा पटुनाऽऽयुष स्वयलता प्राप्ती जन्म सङ्गले,
रक्षा मङ्गलमाधनानविपदि चौराग्निनाशे भय ।
दुष्टभ्यो नृपतिभ्य इभिसमितो व्यालाहिनागोद्भव-
क्लेशेऽनायास इभितो नरभव तत्पुण्यविस्फूर्तितम् ॥१६॥

तनोति भक्ति जनता सुखात्मा कुर्वन्ति विद्यातिपुण हि पाठका ।
लभन्त आत्मधनुत्तमेतु, सुधाकर सङ्गमेव पुण्यात ॥१७॥

अनुभव धाति ममस्तपुण्या-त्याहारयुग्म जिनता विहाय ।
नाऽपि निवान शुचिमयतो यत, सम्यक्त्वहेतु निनगानन हि ॥१८॥

पुण्य प्रधान भगवानुजे य-द्वल नृपत्वाद्धिक इयाऽऽत्व ।
रूप हि नाकौकस इहनाह सनत्कुमार न कृतऽतिपुण्यात ॥१९॥

पुण्यात प्रसिद्ध्याद्य आनुकूल्य, यस्यामिहाऽनुग्रहनुना स्तु ।
य गन्धो न प्रभवन्ति तस्मिन, मोक्षस्य मार्ग च महाविमाऽस्य ॥२०॥

सर्वार्थवस्तार ततारमाया, मय ममाना परमार्थपुण्यम् ।
जिनश्रमणा निखिलोत्तिमागा, वाणी जन सशयभञ्जना ॥ २१॥

अतीथपा यदपि माधुर्य, प्रज्ञानयत्स्वेष पर प्रयाद ।
न्यायोऽस्ति तीर्थ जिनराजभूता, प्रभाव त्योऽसत्पुण्यसहते ॥२२॥

मैत्रीमुदितापरणापक्षा, मस्थाऽधिक-दुःखि-कृपात्र
धर्म्य शुक्ल जिनगुरुसेवा, पुण्याद्धा युपद्रुतियुग रक्षा ॥२३॥

सम्यक्त्व चरण जिनयात्रा, वैयावृत्त्य सह पाठादि ।
यान्यहत्पन्कारणभूता—न्यहत्पूनादीन्यमितानि ॥२४॥

यद्यपि पुण्यापुण्यक्षयत , साध्या मुक्ति शासनशस्ता ।
तत्पि च जिनपाऽऽदेशा पुण्ये, कारणभूता न पुनर्दुरिते ॥२५॥

श्रेणिभग्या प्रकृतय पापा , सर्वत्रास्ति भय आर्तोक्तौ ।
प्रतिपदमेनोवृन्त्स्यार्थे ॥२६॥

कषायतो भवति कर्मणा रसे, बन्धने विभात्रया सन्ताङ्गिनाम् ।
सदुक्तिरेनसो रसेन पुण्यगो, मन्त्नाऽशुभो रसोऽत्र गीयत ॥२७॥

निनराष्टते छ्ता यदीपधर्मसाधना—
न्ययधकानि सन्ति नो पर तत्र्थिताऽत्र न
शुभोऽपि पुद्गलाश्रयो निमित्त्यपीष्यते नहि ॥२८॥

जिने द्रवाद्ययेष्वधानि निन्दितानि निस्तरान
कृपापि पापमाश्रितेपु दु खितेपु सम्मता ।
पुद्गले सुख भवत प्रशस्यते क्रियादर,
फल वृषस्य मुक्तिरा सुरालयोऽपि शम्यत ॥२९॥

मुक्त्यर्थमुद्यनमतिर्यदि सारशापाऽ—
न्यो भवत सुरनराधिपऋद्धिपात्रम ।
अनत्य ,मुक्तिमपि साधयति प्रधाना,
मत्वेति पुण्यपथभृत्तु भवत् स जैन ॥३०॥

इति द्वादशोऽध्याय ।

। त्रयोदशोऽध्याय । ( पापाधिकार )

जनो भवेत् सकलकालमपायभीर-
नैशमपयाति भयतोऽनुगता अपाया ।
नैमित्तिको न भवति प्रलयो निमित्त-
नाश विना भवति सोऽपि च पापभीर ॥१॥

यद्यप्यनिष्टफलद मतर हि पाप,
तत्त्व तथापि यदि न प्रचुराङ्गिमस्थम् ।
आधारर जगति मोक्षविधौ च नित्य,
नाशातमुज्झति न च प्रयतेऽत्र लाभ ॥२॥

पापोपभोगमखिलेऽ यवहारराशौ,
पर्याप्विहीन उदितेऽपफले भवद्भि ।
एव परापरदशासु सदोपभुङ्क्ते,
पापानि तत्फलयुतानि भवऽखिलेऽत्र— ॥३॥

भवदुखमनिजरायलादयस्य सञ्चयो,
भवेत नर पुण्यभर पाप्मना विरोधिताम् ।
विशुद्धभावना नरा न सर्वशुद्धसाधना,
अघनेऽपि नानयोर्विरोध इष्यते बुधै ॥४॥

यतोऽनुसायद पुरातनाहसा सदोदय ,
समं तु पुण्यपापयो न केवलस्तु कस्यचित् ।
च धर्मे कषायितेऽयमिष्यत सपापक,
चरमयोगिन समेत्युदय एनसा पुन ॥५॥

पाप स्वतन्त्रमणतीह च यावदूर्ध्व,
कश्चिद्वदत्यपि च पुण्यपदार्थसत्त्वे ।
अल्पेतरत्व उदितेऽपचय क्रमोत्थ-
श्छिन्त्या तु तत्र विपरीतपथाथभृति ॥६॥

पुण्यस्यास्ति निबन्धन शुभतरा योगा शरीरादयो,
मन्दत्व च कषायसन्ततिगत पापे परे हेतव ।
बन्धोऽस्याशुभपुद्गलाऽऽदनभरो योगान्निमित्तात् पुन-
मिथ्यात्वाऽव्रतकोपनादिसहिताच्चाथवत्कषायोन्य ॥७॥

स्थानानि पापस्य मतानि विज्ञैः-रष्टादश प्राणवधादिकानि ।
आस्रानि पञ्चाऽत्र तु हेतुकाय-स्वरूपभाञ्जीति पुरा त्यजन्तु ॥८॥

स्वाभाविका नन्ति मता सुगुणा तुरीयै-
र्ज्ञान दृशिश्च चरण मयमुत्सु मोहात् ।
तस्मादृतीरलमिता गुणसङ्घहेत्ये(र्यौ)-
स्तत्तत्त्वभूतविभूतिग मताऽऽत्मनोऽर्थ ॥९॥

विचित्रतेया परमेश्वरे चित्, स्वभावभूता करणाद्यभावात् ।
नैवाऽऽत्मनीन्द्रियमार्थसिद्धा, न तत्त्वतश्चेतन इष्ट आत्मा ॥१०॥

यातीन्द्रियाद्यमतिमिर्चितानि तेषा,
यद्दर्शनानि, नदिसेऽपत्यन्ति यस्तु ।
घातीनि किं निजमतौ न्धते ह्याति ॥११॥

सप्तमिराश्या चरारिदिन, न मताऽथाशाता तेस्तीर्थ्यैं ।
न च तथारापरोपमस्थन, भ्रमन्याना नहि तच्चित्रम ॥१२॥

तदैवन हि विद्धि नैतत्, यस्मातान्द्रियवेद्यात्मा स— ।
जिनपा मक्लसाम्नद्विविदु-र्निन्दुमाग वद्भ्यातोत्कम् ॥१३॥
पापापहर्ता शक्त मार्ग, विद्धि जगतीजनहितकारम् ।
सम्यग्दर्शनबोधचरित्र-र्युक्त स्वात्महितैषी भवते ॥१४॥

> पापाना यन्निदान सर्वविरतियुत ध्यानैवागादिहान,
> निज्ञायाचायपार्श्वे तत्करणनिधौ मन्त्यनन् सनपा तन् ।
> हृत्वा सनधा यन् परिद्रनिरमला शङ्कनादौ गलाना,
> त्यक्त्वा पापौघमेव स्वगतमुदयन रूपमात्मा स्वभावात् ॥१५॥

पुण्य च पाप च न तत्त्वशास्त्र, तत्त्व पद नव विचारिते यत् ।
बद्ध परार्थसंयतेऽपि पुण्य, क्षमादियुक्त सुकृत च तद्वत् ॥१६॥

तथा स्वरूपेण विपर्ययेणा-नुभूयते कर्म सम द्विधाऽपि ।
प्रवेद्य पाप तपसा विनाश्य, द्विधा भवेन्निर्मल एष आत्मा ॥१७॥

परस्पर सङ्गतभावभाजा, मूलान्मिश्रा खलु कर्मभेदा ।
अन्यच्च जीवादय आत्तभेदा , परस्पर युग्ममिद न चैतम् ॥१८॥

मिद्रा या मता आस्रवे बन्धने च, ता एव भक्त्या द्वयेऽस्मिँस्ततो न ।
प्रतीत भोग प्रतिपादयत्य, सम्यक्त्वमुख्या सुकृतेऽपि गम्या ॥१९॥

आत्मस्वरूपे प्रतिबन्धकत्व-मपेक्ष्य पापेऽधिकृता मुनीशै ।
सापेक्षभाव हि विरुद्धता न, विरोधदोषप्रतिपादिनी स्यात् ॥२०॥

शुभा पुद्गला पुण्यरूपेण जीवै-र्ये आत्तास्त एवं पुण्यमन्यत्तु पापम् ।
चयो योगत कर्मणा च समानो, यथा काययोगाद् बहि पुद्गलानाम् ।
मत नो कृत नो न चोक्त तथापि पुराणस्य पापेऽनिरतोऽस्मिन्दा ॥२१॥

वन्धोऽपाना विरमति यदा रुध्यते तद् गुरुभ्यो,
ज्ञात्वा रूप विरतिनियमं धारयित्वा त्यजेत्स ।
नामाक्षिप्त भवति जनता गोनिधानेषु तेन,
सत्यङ्कारैर्विहितशपथैस्तोयमानेय आप्त ॥२२॥

सूक्ष्मत्व स्थानरत्व विकलिकरण कायपार्थक्यहानि–
र्दौर्भाग्य दु स्वरत्व स्थितिरहिततनुर्वाक्यमादेयशून्यम् ।
अङ्गोपाङ्गादिघात गतयश इदिति समभिलाद्दि पापान,
मत्वा सुधी विरज्याज् जिनमतनिपुणो जैन एव प्रयोगात् ॥२३॥

यथाऽऽकरोद्भूतगुणप्रशस्यान्, महाघता मौक्तिकमालिकाया ।
तथैव पूज्यो नर उच्चगोत्रा–द्विभेऽनुपूज्योऽस्ति परप्रभावः ॥२४॥

दृश्यन्ते जगतीह सौख्यधनिका शून्या वरैः साधनै–
स्तयुक्ता अपि दु खभारकलितास्तत्स्पृर्जित वर्गयो ।
सद्द्रव्ये परयाचके न वितरेन् प्रेत्य लभेतापि नो,
वीर्ये भोगयुते भवद्विमथन तद् दुष्कृताज्जन्मिनाम् ॥२५॥

लोके लोकोत्तरे चाध्वनि परिहरणस्याहमेतन्न शङ्का,
लोकालस्त्वार्थयुक्ता परिभवपदवी पापिन प्रापणीया ।
आत्येति क्रीडयेद् प्रभुरभियते पुण्यपापक्रियासु,
निश्च तद्धोऽस्तदुष क्षपयन्भिधरत्यय चेष्टाऽसमथ ॥२६॥

चिन्तयन्ति नैव ते दयोत्तयोऽन्तरायजा,
व्यथोद्धुर भवत्पद् कृपालस्य सा परम् ।
पुराणपापपाकजाऽपर च निर्दय प्रभु,
करोति जातमङ्गिन महाव्यथाऽभरान्तिषु ॥२७॥

पुरातनस्य कर्मण फल प्रवदयञ्जनो,
नवीनमन्तीह पापमेव दीर्घकालिकम् ।
ततो निधाकृतेशितुन शोभते सता गणे,
न चेश्वरे पद मनेद्भवस्थगालरोचित,
तदेतदुक्तमहता विमुन्य फल्गुरादिमि ॥२८॥

जैना ब्रुवन्ति जगतीसकलासुमत्सु,
मैत्या यदत्र भुवन दुरित न कोऽपि ।
मो! स दधातु, यदि चाऽकृत पाक तथापि,
धर्मात् प्रणाश्य फलवन्नभाक तु माऽस्तु ॥२९॥

मानानुकम्पनयुता मनसा स्पृहन्ते,
यन्मुच्यता जगदिद सकलाघभारात् ।
नास्तीह यद्यपि समस्तजनस्य मुक्ति,
सम्यग्विजीवनपरोक्तिरिवेह योग्यम् ॥३०॥

यन्मुच्यते मनुजभावगतो हि जीव-
स्तस्मिन् सतीह जगतीतरसत्त्वसत्त्वम् ।
आनश्यक, न च भवन्ति समे मनुष्या-
स्तन्नास्ति सम्भवि पर करुणोक्तिरेपा ॥३१॥

जैन स्यात् सो विविधविधितोऽघौघमीत पुरापि,
लग्ने धर्मे प्रचुरकरुणासङ्गतेल धर्मैत्री ।
मान्योऽस्य स्याद्विविधविधिना हिंसनाघादिवर्जी,
दत्र साधु प्रवचनरतो धर्मधुर्योऽत्ययार्थी ॥३२॥

इति ज्योत्स्नोल्लास...

। चतुर्थोऽध्याय । (आश्रवाधिकार )

वद्यते सकलजन्तुभिभय, कता कल्म प्रति सुख व्यथान्वितम् ।
कमणामुन्यतो, न याप्यसौ, बन्धमन्तराऽऽश्रवान्नृते न स ॥१॥

जैनो मनुते तत्त्वावल्या, तद्योगानाश्रयहेतूनग्न्यान् ।
आश्रवभेदौ द्वौ शुभमङ्क्त कायोक्तिङ्गोगद्वैध्यात ॥२॥

दु खे च सौख्येऽसुमता समस्ति, यथानुभाव सतत निजऽङ्गे ।
तथैव बोधावरणादिजात, स्वभावरोधाद्विदुपाऽभिमान्य ॥३॥

सुखद्वन्द्वमानिश्चकास्यात्मनोऽन्त–स्तथैवात्मबोधादिनाशात् पराणि
विपाकप्रविष्टानि विज्ञस्ततोऽष्ट–कर्माणि मन्वान उदारदर्शी ॥४॥

एको यथो हेतुफलानुयोगी, चेत् सज्यते, यस्तमर्घ हि सत्म ।
स्वरूपहिंसा प्रथम हि पाप, भिन्नानि मिथ्योक्तिमुखानि तस्मात ॥५॥

मुनिभवेत्सरत एनसो घृजौ, क्षमो, ह्यशेषा न पुनस्तथा क्षमा ।
अभ्यासधामान्य आप्तवर्यो, अणुव्रतानीह परपु रान्ति ॥६॥

तथाऽत्र शेषाघविलोडनाय, मतानि पञ्चाश्रवद्वारि विद्वै ।
योगा कषाया करणाव्रतानि, तथैव शास्त्रेण प्रणोदितानि ॥७॥

> जीवा बध्नन्ति कमादयमनु सदृश तद्भवेन्मश्रयु
> भागोऽपीष्टोऽत्र कमस्थितिमितिसदृशो योगमाना प्रत्शा ।
> प्रान्ते बोधादिभिस्तु भवति रसचयस्तत्र भेदोऽस्य बन्धात्,
> बद्ध कर्मानुभाव्य न च परजनित ह्याश्रवास्तत्र योग्या ॥८॥
>
> कमवदन भवत्पधाऽऽत पुराह्निभि–
> रागाश्रया न तत्त्वगा भवेयुरात्वसङ्गिनाम् ।

हेतुकार्यभेद एव चेतना न मंशयो,
न जैनमार्गगा नरा श्रयन्ति जातुचिद् वृथा ॥९॥

न चास्ति जन्तुजात एक एक एव सम्भवो,
यतोऽङ्गिना क्षण क्षण नवा नवाऽस्ति भावना ।
भवन्ति वीर्यशालिनोऽङ्गिनोऽर्हमार्गगा पर
पुरातन घन निनाश्य कुर्वतेऽल्पमेव तन ॥१० ॥

प्रत्यतेऽबुधोऽपि विज्ञसङ्गतो बुधीभवन्,
प्रनायते जडोऽपि बुद्धिमाननिष्टसङ्गमात् ।
यथा तु कर्मबन्धनानुसारि कर्म नूतन,
तदाऽखिलोऽपि धर्मबाह ईक्षणीयो बुधोत्तमै ॥११॥

जिनै सदाऽन्तरमुखैर्दयागताना
प्राक्कर्मणा प्रतिपद क्रियते निरोध ।
आचर्यतेऽपहृतये विविधो हि धर्म,
सर्वं तदत्र प्रथगात्मकता द्वयोश्च ॥१२॥

स्नानाभिघातकरणप्रवणा हि योगा,
स्नानादिघातकरसप्रभृतीन् दधाना
पूर्वं कृत दुरितमाप्तचय दुरन्त,
कुर्वन्ति सत् प्रथगिद मतमाश्रवाख्यम्
[ हेतुममुमाश्रयते प्रथक्त्वम् ] ॥१३॥

सुरत्नय जिनोपदेश आस्रवेभ्य उत्कृतौ,
सवरोऽथ तद्भव श्रयोऽस्य कर्मणा सत ।
सदैवमाप्यते यदा तु बन्धशून्यताऽखिला,
पुराणकर्मनिर्जरा तदाऽऽयय पर भवेत् ॥१४॥

ततोऽवधानमाप्यता सदाऽऽश्रवावरोधने,
न तद्धवेद्विनाऽऽश्रवात्रधानमन्तरा पुन–
र्भवेत्तु तच्च शास्त्रतस्तदाऽऽश्रवान् विरोधयत ॥१५॥

अकामनिर्जरागुणाल्लभन्त आयमागगा,
उन्नितरा दशा न सोऽन्तराश्रवप्ररोधिताम् ।
क्रमाच्छमित्वमाप्यते तत परम्परा शुभा,
ततोऽवमान्यते बुधैन भिन्नताऽऽश्रवाश्रिता ॥१६॥

भवेन्नरोऽत्र धर्मभाग् यदीष्टमागमागतो,
निरोधने मदोद्यतो यथादिसङ्गताश्रवात् ।
जिनोऽप्यशेषपनोधवान् सुदीर्घकालरोगयुग्,
न चान्ध आसवान् विकर्मिक स्योन्नत खलु ॥१७॥

आश्रवे पुराणकर्म जन्तुना निरान्यते,
ह्रस्वकालमियैने प्रदीर्घकालभावितान् ।
महारस नयेत्पर यत्प्रवेशमन्पव,
यतो निरोधनेऽस्य तु प्रधारयेद्विपययम् ॥१८॥

जीवोऽनीशोऽयमात्मप्रतिनियतनिधौ सौख्यदु खैकहेतौ,
प्रेर्याऽसारीश्वरणाशुभशुभरनय हीत्यमाहु कुतीर्थ्या ।
तेषा वार्त्ताऽऽश्रवाणा न भवति सुगदा कणयो श्रावमाणा,
स्यात्पेषा कणगन्धेऽमृतरसतुल्ता येन दासत्वलीना ॥१९॥

यथाऽऽतुरो वैद्यनिवारितोऽपि, जानन्नपथ्य परिहर्तुमिच्छु ।
रमेप्सुरत्यथ उत्सवीय–स्थैर जीर गुरुकाम्यपथु ॥२ ॥

श्रुत्वा कर्णरसायनं वच इदं ये श्रद्दधीनाश्रवान्,
रुन्ध्यात् दुष्कृतवारिधि समगुणान् मत्वा जिनेन्द्रं नच ।
स स्यादात्मनि गुप्त उन्नमतिको धर्माद्दतोऽनेकश ,
स्याच्चासौ वर जैन एव नितरां सच्छ्रेन्नानाधताम् ॥२४॥

एतज्जैनस्य शुद्धं जिनपतिगदितं सर्वशास्त्रस्य सारं,
हेया संसारमार्गे प्रतिपन्मटनादिष्ववस्थास्वपीह ।
पापानामाश्रवा ये इन्द्रतनुवचोभिर्विपापु ये स्यु ,
रोधास्तु प्रयुक्तैन भवति परमा भावनैनमनुश्चं ॥२५॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

---

। पञ्चमोऽध्यायः । ( संवराधिकारः )

सन्यासेन शुचिनरमुदितं संवरं तत्त्वभूतं,
पापं यस्माद्धिरनिरणान्तरेणैति नियम् ।
मिथ्यात्वाद्या मननविषया नैव ता सन्दधीरन्,
यस्मात्तेषां न भवति दुरितं पापकार्ये प्रवृत्तौ ॥१॥

जगति जैनकृपादपरे यथा, करणमात्रमाहुरघं परम् ।
अविरतौ यदि पापमपास्यते, कथमनाश्रिवे निकलेन्द्रिया ? ॥२॥

सुप्तो यथाऽभिमग्नो विगतक्रियोऽपि,
छिद्रं प्रतीक्ष्य वितनोति परस्य घातम् ।
जीवास्तथैव रहिता क्रिययाविरत्या,
पापप्रवाहमुदितेऽनरस्पशङ्का ॥३॥

निरोधः सवथा मुनिभिरुदितः शास्त्रविधिना,
परित्राणायाऽथान् सततमुदितादाश्रवकृताम् ।
पर योगा पापा वधमुखगता रोध्यपदवीं,
गता रोध्या विज्ञैर्निखिलदुरिताश्रवरुधिकृते ॥४॥

रणाद्धयघ्नता[न्यव्रता]न्युग्रपापानि साधु-
रशुद्धा निरुद्धा भवयुस्तु योगाः ।
कषाया हृषीकाणि रोध्यानि पञ्चता,
भवतु मा तु मध्य मुमुक्षस्य साधो (जन्तो ) ॥ [illegible] ॥

विवक्रो हि तेषां यतो यत्न एषु,
विपक्षेषु कार्या कृतनिष्फलत्वम् ।
प्रवृत्तिश्च तेषां यथा नोदय स्या-
दिति प्राप्तधर्मा निरुन्ध्याद् वधादीन् ॥६॥

इर्यामर्पणाऽऽस्तिक्षिपति-परिहरेपूद्यतो योगकार्य-
गुप्तौ वाक्कायचित्ते क्षमणप्रभृतिभिर्धर्मभेदैर्धृतात्मा ।
क्षुत्तृड्मुख्या विबाधा सहत उपयगा भावयन् भावनाश्च,
चारित्रे चाल्पके चरति दुरितहाम धृतोऽऽरूप्यमेव ॥७॥

एव योगेषु शुद्धध्वनुगतसुविधि साधन चार घत्त,
श्रेण्या कर्मक्षपण्या यदि परमगुणु कर्मभारश्छिनत्ति ।
सर्वार्थान्तेषु देवो भवति स सुखनिर्भाविभद्रो विमानं,
सर्वाज्ञापूर्णरसे जनिमुपमगिता सिद्धिमता ध्रुव स ॥८॥

यद्येषोऽनल्पकर्मा परिपतति वृषान् भवराद् दर्शनाच्च,
नैरास्यौ मग्नतौ स्याद् भ्रमणमनुगतोऽपाधरत्तोयिक तु ।

उपदेशतोऽयमेतानिचयमनुगतो यातु साधारणत्व,
निगद्याऽभ्यास प्रयान्त्यखिलगुणगुणितामति नैव शिव स ॥९॥

नाचम्भूत्तु सदम्भविगतय भोगसविभ्रमप्राद्
स्फटनभ्या विरमति स एव महता निश्चयाद् ।
शुद्धर्थे तस्या शुभ्रगणगुरुमी विशतादियर्था स,
शास्त्रै सम्यग मुनिगुणनिचित मार्गमुक्त चतुष्कम् ॥१० ॥

यद्यप्येष द्विवर्गनिदमा श्राद्धपुर्येषु योग्या,
नैव स्यात्पुरुषमप्रत्याख्यानिनोऽणुव्रतिन ।
नैनान्येषा सुरवरहृतये पौरुष तत्त्वत त,
निष्णातश्री भवति मुनिवृत्ति साधुना नैव यद्वत् ॥११॥

य स्त्रा सम्यक्त्वमार्गे विगममनुगुन शुद्धदर्पावि रक्त
सम्यक्त्व मोहनागाम च भवति यम शक्तिना श्रावकानाम् ।
इह गद फलय द्रविणमुदय प्रगत सारहीन,
प्राणान्तेऽसौ न जहाति सुरतनिर्विहितपुरराणेषु साम्यम् ॥१२॥

अणुव्रतानि धारयन् सदैव सुमत यतो,
यत्र यत्र श्रणो भवेत् तत्र तद्रा स निस्पृह ।
चतुर्विधऽपि पौषधे च निश्चयात् पर्वसु,
नितान्तमाश्रितो भवच्छुताविकायसिद्धये ॥१३॥

स इत्वराणि धारयेदणुव्रतानि च पुन,
परम्परा समाश्रयेत् धृत तु यावदन्तिमाम् ।
गुणेषु शिक्षया युतेषु यान् इष्यत स्पृ-
र्शित समारत तु यावदन्तिता भव ॥१४॥

दु खित्वान्नरकाश्रिता परकृत तन्त्र वहन्त पुन–
स्तिर्यञ्चोऽमरता गता अपि पुन सामर्थ्ययुक्ता समे ।
स्त्रीउन्ति न सवसवरविधि याच क्षणे साधनात्,
तन्नैका नरता विना क्वचिदपि स्यात सनर सत्तम ॥१५॥

धर्माचारधर सदाऽश्नुते पाथेयमामुष्मिक,
देवाचार्यसुकृत्यपूजनविधौ शुद्धा भवद् या कृति ।
तीर्थाना परिपवणा घृषवता भक्त्या समाराधना
याऽन्ते स्याच्च समाधिना मृतिरिति प्रध्वमि शेष पुन ॥१६॥

जीवेषु क्लेशवत्सु व्रजति करणया रक्षणे सत्प्रयत्न,
यस्माद् दु खान्वितेषु प्रयतत इन्ति शार्म्भावोऽयनाय ।
य त् तच्चिह्न प्रसत्तेरधिकृतसुविधेर्भावसम्यक्त्वजाते–
रात्र तल्लक्षण चेतरमिपचयतो जैन यशे विशेषान् ॥१७॥

मुसवरास्ते यदि भावनाभि–यदात्मना स्वाभिरनुश्रिता स्यु ।
महाव्रतेपूरतधारणाया, यथा तथाऽणुव्रतधारणायाम् ॥१८॥

सदा प्रतिज्ञा सुस्रा सता स्या–न्न पालना सद्व्रपमाश्रितेष्वपि ।
योगारततो धर्मपरैरमूभि , सद्भावनाभि सतत प्रयत्या ॥१९॥

योऽणुव्रताना यमिना समक्ष–माशु विधत्ते यततोऽप्रसत्ते ।
दिने दिनेऽसौ मुनिताधिगत्यै, प्रतिव्रन सत्कृत क्षमूभि ॥२०॥

महाव्रत स्यु सतत समुन्नता, य तऽयमूभिन निज यसीरन् ।
आमूर्च्छाभिर्पामययु–र्द्विधा विहाराद्सुभावनाभि ॥२१॥

मुसवृता विभ्यति नैव मृत्यो–र्ना ग्ताना सुगति पद्माम्बुजे ।
विमोहन शोरमुपति सख , क्षण पर मोऽनवद्यनीतिनाम् ॥२२॥

न जायन्त स्युः प्रतिरुद्धभावा, यथायुरखाणनमङ्क्षिना या ।
क्षणो हि धर्मस्य पर दुरापो, मत्वेति रत्नत्रितयानधाना ॥२३॥
भान्य समें मद्वन्ये रिपौ च, स्त्रैण तृण चाऽश्मसुवर्णयो पुन ।
भव च मोक्षे च विभान्य भाग, भवरागवैराग्यपर निर्निम्सितम् ॥२४॥
परे समस्ता प्रमृता हि धर्मा, वर्तन्ति दौगत्यगमोदितानि ।
दु खानि वैराग्यकराणि जैन-श्रुतगतीना तु भयानि वेत्ति ॥२५॥
बिभेति मराऽपि भवाश्रितोऽङ्गी, मृतेन सोऽपैति भयाद् विमीत ।
सम्यक्त्वरामृतञ्जननाद् यतस्त-न्निवायमेतश्च विना न मृत्यु ॥२६॥
ध्यय मदैत परिसस्रुवाना, कना ह्यसङ्गो ऽथ (वम) ऽल्पवास ।
मलात्तदहो भ्रमरोपमाना, यथा कना सद्गुरुसश्रित श्रय ॥२७॥

मना श्रिये गुरा कुले निरास थाहृते मते,
गणाधिपास्तथाविधा आपि श्रुत पद जगु ।
अभिन्न एव नदूनहिगतैस्तु मोहतस्कर-
स्तनाश्रयाश्च तद्विधास्ततो गुरो कुल श्रयेत् ॥२८॥

यद्यपि दहो गुणकुटयुक्तो, मोक्षपदावह उत्तमुनीनाम् ।
तन्वपि निरावाध पदमेतु, युत्सृजतीह सम मुनिरन्ते ॥२९॥

आनीरिताद्धमपरो हि जैनो, रत्नत्रयाराधनया कृतार्थ ।
तत्त्वत्रयीं मानसकोशन्तो, सदा दधन् प्राप्स्यति शाश्वत पदम् ।
( मग्न सदानन्दपरे समर्च्य ) ॥३०॥

इति पञ्चदशोऽध्याय ।

। षोडशाऽध्याय । ( बन्धाधिकार )

जैन मता भीतिधरोऽपवर्गात, मुमुक्षता निर्मलचेतसा धरन् ।
प्रतीयमानोऽङ्कगुदारभावाद्, मुखैरबन्ध भविना तु बन्धम् ॥१॥

आश्रुत यदाश्रवैरदृष्टमात्मनाऽऽगमु
विशीर्णमेव चेत्तस्य यात्यदो भवान्तरम् ।
क्षीरनीरवत्पुनर्भवान् तवत्तु सङ्गत,
फलत्तरा भवान्तरेपु विपाकसाधनानुगम् ॥२॥

परिश्रवा भवन्ति ते स्वरूपतोऽपि सश्रवा–
श्रटश्रपैति यान् सितान् शुभाशुभावुकाशान् ।
पतन्नपीह तान् प्रयात्यसौ भवी न सशय ॥३॥

धममाधनोन्नता नरा सदा भयानरान्,
पराङ्गन्त आश्रवास्तथापि सम्पयान्ति तान् ।
देवसाधुधर्मभक्तिकारणात्तत शुभान
विधाय प्राक्तन दुरितमुद्धरन्ति तत्क्षण ॥४॥

प्रकृतेर्बन्ध योगा कुयुक्तनौ यथा धातव ,
पूर्व सदृशास्तेषा दशास्ततो नहि सात्मकम् ।
बन्धनतत्त्व यत्तद्बन्धो भवेदमुतोऽखिल ,
स्थित्यास्तेषामनुभावान्च क्रियानुबन्धत ॥५॥

योगकरणानपि श्रयन्त्यमी, आश्रवा सयोगिता तमाश्रिता ।
सम्परायिकी समाश्रिता नरा कषायिनानुगास्तावदप तु ॥६॥

यदपि च योगा आत्मायत्ता पर मुहितागुपु,
अपरसमुत्था भवऽयत भवन्ति कषायका ।

परतोऽनन्ते विकृतिं कुर्युं परस्त्वणुपुद्गिता,
आश्रवबन्धनयुग्मे स्पष्टो भेदो जिनराडमते ॥७॥

आयुष प्रतिभव निमित्तता बध्यते भवऽपि महदैव हि ।
परभवायुषा यदोन्यो भवे, क भव व्रजति जीव आत्मना ॥८॥

नन्य नैव परभावसुसमित सत्त्व कश्चिद् भव-
भ्राशो नैव च मन्त्रवारणपटोरथस्य विधत्रये ।
यतो वस्तु जगत्रयेऽपि भवति प्रक्षीणमस्त्व नव
तत्रायोऽयमनादिकालललितो नामन्धन सोऽपि च ॥९॥

महाणकर्मा न करोति कम, नन्य न चात्मण आप्तिरस्य ।
भवभ्रमतश्च रहिता अमी तद्-भवान्तादनन्तु कर्मसयुता ॥१०॥

आत्मा ज्ञानमयो न्हि दृधन्धो दुःख च सौख्य सदा,
पर्यायेण भवन् भवान्तरगति प्राणप्रधानो भव ।
नन्यादीन स्वगतो गतान् धरति चायाति प्रकृष्टऽवरे
गोत्र नानसुरैर्गुणैरनुगत किं नाश्रन्धो भवत ॥११॥

यथा रसास्तु कर्मणा स्थितिमतीव यद्द्वय,
रूपायत प्रकृते भवऽङ्गिन प्रतिक्षणम् ।
न्त्रा गुणा यदात्मना न हानिमाश्रयन्त्यमी,
रसैस्त्वनल्पकैर्विना स्थिती रसानुगामिनी ॥१२॥

विचारयन्ति चेद्बुधा रसे स्थिती च कारण,
न घातिकर्मणा स्थितौ रसे च दीर्घकालिके ।
मते नामे च वारका शुभेऽन्यतार्थिका ततो-
ऽनयो प्रदीर्घिका स्थितिमता बुधै मतोद्धरे ॥१३॥

एकशो निधाय पापमेत्यनन्तकालतो,
महत्मनीषरात्रिकीं स्थितिं तनोति तत्तथा ।
इह विपच्यते यतोऽहसा चयो न ताम्यते,
अनादिकास्तु तन्वते मुहुर्मुहुस्तका स्थुम  ॥५४॥

यद्वमह एत्यत्र विपाकमानक्षता, ।
स्थिते क्षये पर द्विधाऽस्ति कर्मभोग्यमात्मन ।
प्रदेशतो विपाकतश्च न क्षय प्रदेशतो,
यथौषधेन हन्यते विपाक आमयाविनाम्  ॥५५॥

अत कृतस्य कर्मण क्षयो न जातु जायते,
धर शतैरपीह कल्पकालसङ्गतैरपि ।
प्रदेशमार्गमाश्रित वचस्त्विद बुधैर्मत,
गतस्पृह तपस्तु तद्विपाकतोऽपि नाशयत  ॥५६॥

यथा रसोज्झितानन गलन्ति शीघ्रमाश्रयात्,
तथा विपाकशून्यता गता समेऽगसाऽङ्कसाम् ।
निकाचितानि कानिचिद् भवयुरस्मा पुन-
र्घनानि तानि नाशयन्ति [illegible] ॥५७॥

यत्नाऽपथ्यधान्न विभाय जन्तु-निपा[illegible]
किमातुरोऽपथ्यविधौ [illegible] वृद्धौ
निर्भेति चेत्तथवत्[illegible]
स्वायत्तयन्त्र च [illegible]
यथा कषाया [illegible]
कषायहीना [illegible]

निरुद्धयोगो भगवानयोगी, न बन्धकः सर्वनिमित्तशून्यः ।
मैरेति मोक्ष प्रत्यात समस्त–कर्माणुसङ्घस्य विशुद्धरूपः ॥८१॥

अनादिकालीनचिरप्ररूढा–ऽप्यापवत्वेनाश उदीयते यः ।
यथा न बीजाङ्कुरसन्तते स्या नाशस्तथाऽस्यापि निमित्तहाने ॥८२॥

मीमांसका विश्वविधानशून्या सुवर्णयोग प्रवदन्त्यनादिम् ।
मोक्षापलापे प्रवणास्ततस्तान् प्रत्यय स्यान्न उदीरित श्रुते ॥८३॥

यन्नास्ति कर्मानुभवः समन्ता–द्गुणावलेनोद्भव आत्मभूतः ।
स प्रत्यधोन्दनो न चास्ति विशुद्धपूर्णस्य पुनः प्रबन्धः ॥८४॥

यथैव आहार उपैति भाव, सप्तप्रकार रसमुख्यरूपैः ।
तथा गृहीत प्रवर्तीह रस सप्तप्रकार समयऽप्रतायम् ॥८५॥

आमैषाऽनन्तकर्गस्य प्रतिसमयमहो सूक्ष्मरूपावगाढान्,
गृह्णात्यज्ञान समन्तात् परित उपधृतोऽनन्तवर्गं षणस्तु ।
यस्माज्ज्ञानान्योऽस्मिन्नमितपरिमिताम्ने श्रुत ताम्र गोप्या,
जीवत्वाधारभूता मलतिरहिता निश्चला अष्टदशा ॥८६॥

आत्माऽन्यरूपो ह्यगमस्तु कर्मणा तथाविधा नति कथ तयोर्युति ? ।
न चिन्त्यमेतद्युतिरत्र युग्मे, द्रव्यस्य धर्मोऽस्ति मा यथा स्यात् ॥८७॥

स्थूल शरीर यदि जीवयोगि, प्रत्यक्षमेतर्हि पदार्थयोऽन्य ।
अनुमहे शक्तिभूतश्च निमहे, कर्माण्यनस्तानि स्मात्मिमन्ति ॥८८॥

अज्ञानामनिविभ्रमात् प्रतहते मोधान्तितो योवनान्,
हिंसादिरेषसन्वयस्य मुक्तिरन्धो न वाय कश्चिन ।

वृद्धत्वेऽधिगतेऽङ्गपीडनमलं बाल्येऽनुभूताद्धते-
स्तद्वत्कर्मविपाकमेति विहिताऽबाधासमाप्तौ ह्यम् ॥ ९॥

प्राक् संसारे भ्रमनुसरता दुष्कृतं यद्धमल्पं,
पापस्तस्यानणुरिह भवति प्राप्तकालोऽसुमत्सु ।
वीरे देवे मदवधविमति श्रोत्रपीडाहृतेदद्
यद्वा तीर्थङ्करभव उदितं नामक नैव पापे ॥१०॥

जैनाः सम्यक् निपतितमिदं यथतत्त्वं विजानन्,
नित्यं चेतोऽपरहितजनतापादपीठे निध्यान ।
साशङ्कानां भवति दुरितं निजरान्तं विवेकात्,
सोऽमुत्र स्यादुपरि सुरवरे निश्चयाच्छुद्धलेश्य-
श्च्युत्वा तस्मात्प्रधिगतनृभवः शाश्वताऽऽनन्दमेता (लाभ) ॥११॥

इति षोडशोऽध्यायः ।

---

। सप्तदशोऽध्यायः । ( निर्जराधिकार )

धन्यः स स्याद्व्रतिधनिवरः सास्थिरेषु प्रधानं,
[illegible] यो निखिलभवगतं कर्मणा प्राज्ञ ( पण ) राज्यम्

यतो जातो व्याधि कुपथचरणादरनुपमो,
निरोधस्तत्त्यागाच्च च कुपथकृद् रोगरहित ।
पर व्याधर्नाशो विकृतिहरणे ये पटुतरा-
स्तदा जीवात्तद्वद् भवति विहृति कर्मजितते ॥३॥

मोक्ष न च शिवमय मनसाऽऽप्तुमिच्छेद्,
दुःख क्षुदादिसहित विविध सहेत ।
सोऽपि क्षिणोति परमाश्रितमङ्गभाग-
स्तीव्र करोत्यघमिव स्वपकामनाद्धा ॥४॥

सूत्रे यतोऽग्नितपनात्क्रिमाचरन्तोऽ-
धोगामिनोऽपि कथिता प्रविराद्धभावा ।
गार्हस्थ्यलीनमनसोऽपि विरक्तिकामा,
आराधका परभव कथिता जिनेशै ॥५॥

मुक्त्यरता यदि भवेच्छिवधामसिद्ध्यै,
कार्यं भवेद्भविजनैर्गुणघातमुख्यम् ।
वादाश्च सन्ति सम आस्तिकताश्रिता ये,
मुक्त्यर्थिन तत इमे शिवभाजन स्यु ॥६॥

मुक्त्यर्थिनश्चरमतत्त्वगता प्रसिद्धा,
वादान्विता अपि पर चरमावृता स्यु ।
सम्यो जिनेन्द्रकथित मनुते हि मोक्ष,
भव्यस्तदर्थनिपुणाश्च परत्र शुद्धा ॥७॥

अकामनिर्जरारता व्यथाऽमिता फल लघु,
सकामनिर्जरे पुनर्महत्फल व्यथाऽल्पिका ।

घृद्धत्वेऽधिगतेऽङ्गपीडनमरं बाल्येऽनुभूताद्धते-
स्तद्वत्कर्मविपाकमेति विदिताऽबाधासमाप्तौ रुदम् ॥२९॥

प्राक् समारे भवमनुसरता दुष्कृतं यद्धमल्प,
पाकस्तस्यानणुरिह भवति प्राप्तकालोऽसुमत्सु ।
वीरे द्वे मदयधविमति श्रोत्रपीडाकृतेयद्
बद्ध तीर्थङ्करभव उदित नारक नैव पापे ॥३०॥

जैन सम्यग् जिनपतिगदित धर्मतत्त्व विजानन्,
नित्य चेतोऽपरहितजनतापारपीडे निरुध्यात् ।
साशाङ्का भवति दुरित निर्जरान्त विवकात,
मोऽमुत्र स्यादुपरि सुरघरे निश्चयाच्छुद्धदेश्य-
श्चुत्वा तस्मादगिगतनृभव शाश्वताऽऽनन्दमेता (लाभ) ॥३१॥

इति षोडशोऽध्याय ।

---

। सप्तदशोऽध्याय । (निर्जराधिकार)

जा म स्याद्धतिथनिस्थर सात्त्विकेषु प्रधान,
मथसे यो निखिलभवगत कर्मणा प्राज्य (पुण्य) राज्यम् ।
चेता धत्ते निम्विलवृजिनाद्घातहृत्तो सुधर्म,
म ता यद्वद् वृजिनसुविलय पाकतस्तद्वदेव,
जीर्णाजीर्णातपस इह कृताभिजराया फलं ता ॥१॥

एवं जीव पापमय प्रभावा-दाहाराद् सरभस्पु भावात् ।
यावत्र स्या मवधतस्य नाशो, मत्तेराधा तावता नैव मिध्येत् ॥ ॥

विमोहमुख्यकर्मणां सत प्रभृतिबन्धनं,
न कोटिकोटिसागरप्रमाणतोऽधिकं भवत् ।
गत गुणेऽपि लब्धपल न तस्य जातु जायते,
रसोऽधिकस्तु पातत समुद्रवेद्गुणाप्तम      ॥१४॥

यथा यथा गुणावृते क्षयोऽह्निवीर्यवृद्धित-
स्तथा तथा गुणायत समुद्भवो निरन्तर ।
पर पर गुणे यथा गुणावले समुद्भव-
स्तत्र सदाऽधबन्धन गुणप्रभावत क्षयेत      ॥१५॥

कषायाणा नाशो यदि च शमन स्यात (मणी) प्रभव,
तदा बन्ध सर्वो विलयति भवाभिप्रजनन ।
पर बध्नात्यपोऽस्तियुनि चत्त उदिन ,
पर मा त वेन क्षिपति दुरित प्राक त्वनिपतनम ॥१६॥

यत्नन्यथा शुभगुणजननी निर्जरा पाप्मना स्या-
च्छैवाम्नाता शिवपदपरमे निर्जरा पुण्यभागे ।
बन्धाभावो यदपि मुक्नरामशुद्धशुद्धपोऽसौ,
शुद्ध यत्र स्वकगुणनिरत नैव कोशुभबन्धनम्      ॥१७॥

समस्तकर्मनिर्जरा मत जनुस्मता भवे,
भवक्षया विपाकभाग् निसर्गविनाशन ।
दर्शन पर सकाऽनद्यपकर्मणा स्थिते ,
पुनश्च बन्धन न तद् द्वय दिर गमे नरि (समस्तनिर्जरे)॥१८॥

उपात्तकर्मजारण तु निर्जराधमायज,
नवीनकर्मबन्धन न जायते ततोऽन्तरम् ।

श्रुतादयो यथा शमे हि हेतवोऽनियन्त्रिता-
स्तथानुकम्पकादयो भवेच्छमो नथा सत ॥८॥

अकामनिर्जरा पृथग् जगाद बालतापना-
च्छुत तदत्र कारण बुधै सुखेन गम्यते।
इहत्यभोगलालसा नरा प्रथमपङ्क्तिका,
द्वितीयपङ्क्तिका पुन सुरर्द्धिभोगवाञ्छका ॥९॥

निर्जरा तपोबल तपस्तु सवराश्रिते,
कुतीर्थिना पुन प्रदाय नाक्तिता परा, च्युते।
दुरन्तससृतिरभ यसाधुता यथा ॥१०॥

जिनेन्द्रधर्म आप्यते मले घने क्षय गते,
तथापि नैव लभ्यते शमोऽङ्गिना विनिश्चयाद्।
भिनत्ति सप्तक यदीह मङ्गत मुले वर,
दने विघातिना तदा ध्रुव शम श्रयत् ॥११॥

पृथक्त्वपल्यमानगा यदा तत स्थिति क्षय-
दपस्य तद्विरोधिनस्तदा मुने पदाचक।
तन हि श्रेणियुग्मयुग्मुनित्वलाभ आप्यते,
यदा च मङ्ख्यवार्धिमानग ज्यो भवत् स्थित ॥१२॥

बन्ध क्रमतत मदातनभवार्थिजिनराऽशासिका,
स्यादुमा म समेति नेशकरण मुख्य यथाप्रवृत्तिकम्।
अग्रे याति ततो विशालगुणवृद्ध्यो द्वितीयां कृतिं,
ज तुर्भोनिशगस्तृतीयकरण याति प्रशा तात्तर ॥१३॥

अत समस्तकमहानितो भवद्गताधता,
विमोक्षतत्त्वसम्भवस्य न यस्य धविच्युते ॥१९॥

समस्तकर्मनाशनान्मत जिनेश्वरै शिव,
पर न तत्त्वतत्त्वतो निजान् गुणान् सनातनम् ।
दधात्यनन्तमन्ययान्, स्वरूपत शिव नु त-
न्नीनरूपमेव तत्कृतिस्तु निर्जराश्रिता ॥२०॥

यथा हि निर्जरा शिवस्य साधन कृतौ स्थित,
तथैव बन्धनोद्धति परा शिवस्य साधिका ।
पर न बन्धनोद्धतिर्विनास्ति कर्मनिर्जरा
परम्परा यतोऽनयोरततो द्वय हि साधनम् ॥२१॥

तपोऽघनिर्जराफल द्विधा तपस्तु तत्पुन ,
स्वरूपतोऽन्यतीर्थिकै कृत सम तु बाह्यत ।
विचार्यतेऽनुबन्धिता न चात्र बाह्यताश्रिते-
ऽनयतेतराश्रिता शरीरतापनाद् द्वयो ॥२२॥

बाह्येऽस्मिन्नुदिता भिदो मुनिवरै षट तत्र मर्यादया,
तीर्थाना, क्रियतेऽनशनादिविरमो वीरस्य सच्छासने ।
षण्मासी प्रमिता, न चेद्भवति ता कर्तु सहो मानव ,
स्यात्तपस परिपारणेऽसमपरो मुहूर्त प्रकाम न वै ॥२३॥

यद्यासी न सहो भवदसमता कर्तु तदा सक्षिपेद्,
शक्ति, धजति तत्सहो न निकृतीस्तद्धानितोऽन्तर ।
कुर्यात् क्रमभर तनोमदहर, यद्धानितोऽसौ सुखं,
नार्त रौद्रममश्रित न च भवेत्तन्वद्रियाणा क्षति ॥२४॥

अथवा समुत्थिता क्षयोदयात्, केचन क्षयसुरोद्भवा अपि ।
सनराश्चरणमोहनाशना, बन्धन शमादिमोहज पुन
ष नु भावमाश्रयेत्तपस्त्विनम् ॥३३॥

चरणमोहनाशतस्तपो ननु स्थायि यो शिव पदऽधभावत ।
नोदित ततोऽद आर्यसत्तमै-र्हेतुकार्यहानित शिवाध्वनि ॥३४॥

जनो मोक्षाध्वयायी न च भवरतिमान् चारवे यद्वशान्त,
क्षिप्तो निस्मर्तुमिच्छेद्विविधविधिपरस्तद्वपोऽपि नित्यम् ।
कर्मान्द्वोभञ्जनाय सततमुदितधी मनगे निजरायां,
युद्धा मोक्षाप्तिवीर मरति तप इद निजरान्यहेतुम् ॥३५॥

इति सप्तदशोऽध्याय ।

---

## । अष्टादशोऽध्याय । ( मोक्षाधिकार )

जैनो य स्वहृयभनु सदा मोक्षाय मनगभाग्
निर्विण्णो भवचारकात कमणा सिक्ता द्विधा दु खिपु ।
आस्तिक्यादिगुणान्वित स्वरमण शान्तास्पद निस्तुप,
भव्यश्रद्धो गुणकाङ्क्षिणा निगद्यते स्वर्गान्तिनुन्ड फलम् ॥१॥

पर्यन्तभागे गदितोऽयमात्ते, पर तदाप्तन हि साधवा किल ।
नवाश्रिता नैव परऽपि भावा, सनातनो मोक्ष इत शुभ न वै ॥२॥

अनन्तविज्ञानमनन्तदर्शन, सात्त ज्ञानन्त निजरूपनातम् ।
अनन्तसम्यक्त्वमनन्तशक्ति, समग्रशक्त्यात्मन यजेत सदा ॥३॥

।

न गर्भवासोद्भवमस्ति दुःख, न जन्मभावोत्थममानरूपम्।
व्याधिन शोको न च नैव वार्ध्यं, न चान्तकोऽस्मै प्रभवेत् कदापि ॥४॥

न चास्ति ससारभरेऽपि (त्र) किञ्चित्, स्थान जनुमत्युविहीनरूपम्।
भय च सर्वासुमतामभूम्या, न वारणीयो भवतोऽस्यय विना ॥५॥

अस्मिन् भवे नास्ति चतुर्गतिष्वपि, स्थितिर्भवेन्नत्र सनैकरूपिणी।
पूर्णान्स्वनित्या रमणी स्वरूपे, सा सिद्धिमानामपुनर्भवानाम् ॥६॥

अतीतकालेन शिव गता पुन-स्तथैव भावि यपि भव्यजीवा।
अनन्तमाना न तथापि भ -विनारत स्याद्भव एव नूनम् ॥७॥

यथाऽन्त्यवार प्रपदुद्धर्ती न, क्षयो न चोनत्वमपारभावात्।
अमव्यभावा तरिता तु तत्र भागो ह्यनन्तस्त्विह सर्वकाले ॥८॥

कल्पे प्रयात्यक उदस्तमृत्यु, शिव तत्र तेऽतिगता अनन्ता।
अन तविज्ञाननियुक्तिभाग्भि-मुक्ति गताना मतमत्र जन्म ॥९॥

सञ्जायते जनिरमुत्र न्धाति कर्म,
सत्तागत तदपि चाप्तनिधानरूपम्।
यथैवमस्ति न तु कम च जन्मधारी,
स्पष्टोऽस्त्वागमभर प्रवदो हि नेप ॥१०॥

आकस्मिकी भवति चेज्जनिरममत्ता,
निर्वाणमेव न भवेज्जनिकर्मभावात्।
दानादियुक्ता निखिला हि धर्मा,
कमद्रुमाम्बुदसमा न तु मुक्तिनिघ्ना ॥११॥

मोक्षो न चैष भवगामिस्वायुतश्च-
स्त्रमादिदुःखनिरेप भवोऽन्यथा न।

ज्ञानाश्मोघगुणसङ्गतिरत्र नार्हा
यत्रास्ति कर्म भवसन्ततिकार्यदक्षम् ॥१२॥

मुक्तानां नहि मोहनीयसदृशा दोषा भवेयुः क्षण,
तन्नायुर्न च जन्मजातिसहितान्यहासि लेशादपि ।
तेषां चेद् भवकूपपातविपदो देयोऽञ्जलिर्नास्तिवै,
यन्न्यायेन हि तेन सिध्यति वचो राद्धान्तशिष्ट कचित् ॥१३॥

सूर्योदयो भास्वरभावभाजो, यथाऽनपेक्षा परकार्यभावे ।
मुक्ता अपि स्वात्मरमा न किञ्चित् कदापि कार्यं परमुद्वहन्ति ॥१४॥

वस्त्वस्ति किञ्चित्रितयो मुक्त य-जन्मस्थितिक्षीणदशानुयायि ।
ज्ञेयाद्यपेक्ष्या गुरुलाघवादि-व्यपेक्षया वाऽन्ययमाश्रितेषु ॥१५॥

स्थिता शिवे यद्यपि मुक्तिमाप्ता-स्तथापि भव्यपूपकारमव्ययम् ।
वितन्वते यद्वदिहेतिहासा, पराक्रमन्ते परकीयमासु ॥१६॥

पद न मुक्तेर्यदि चेन्न सम्भवि, मार्गं दिशेयुर्जिनपा नु कस्य ।
मध्यात्मन सूरिवरा अधीर्ति श्रीवाचका साधव साधन तु ॥१७॥

यदाऽन्यय नव पद भवेत्तत्, धर्मक्रिया नैव फलाय योग्या ।
यतो दिवौक प्रभृतिन नित्य, शम्या न विद्वद्भिरधोमुखी श्री ॥१८॥

परे कृताऽतुल्यसुखा सुसम्पत, न नोयदा वीर्यगुना नराणाम् ।
समारचमे निखिलेऽप्यसुना, निरन्तरानप्रभया सुखश्री ॥१९॥

स्वाश्रितेषु रमण निवाश्रिते-ष्वनिन्द्रियनसुखेषु वस्तुषु ।
सर्वकालभाविषु परषु तु धर्मिणा पर धृते पद नहि ॥२०॥

रूपिणामपि न काचिदाहति, सूक्ष्मताधरेषु तेनमासिव ।
मुक्तिमाश्रितेष्वमूर्तता गुणान, स्थानमप्यमितनीरमश्रितम् ॥२१॥

यथाऽग्निधूमादिषु पूर्वयोगा-इतिस्थैषामपयोगयोगात् ।
धर्माद्यभावान् परतो न लोकाद्, मुक्तांस्ततोऽमे स्मरतु स्थितीनान् ॥२२॥

यथोपनत्राद्विपुलं समीक्षते, सन्निपदृष्टिः पुरुषस्तथाऽत्र ।
अवेतनेश्च सुखसम्पदिद्धा, निरङ्कदृष्ट्या तुलितं शिवे सुखम् ॥२३॥

आत्मैव कर्म कल्पयेदणुसहतत्वा-यत्रास्ति नैव कल्पनाऽणुसमूहजाता ।
नित्य शिवं शिवपदं कलुषादिहीनं,
मुक्तं पदं ननु निरञ्जनमीहनीयम् ॥२४॥

प्रत्यात्मदृश निखिलार्थविस्त्वं, परं न चैकार्थगतो विभिन्नं ।
कस्यापि जन्तोरुपयोजनाद्र-स्ततोऽखिलात्माऽखिलपरतुवेत्ता ॥२५॥

अक्षोयत्रा मिश्रतमो न चैवो-पयोग उक्तो त्रिगुणात्मनोरपि ।
तथा समस्तार्थविदा क्षणे क्षण-ऽभन्ने भवेज्ज्ञानदृशो सदैव ॥२६॥

प्राक्केवलात् स्यादुपयोगयुग्मं, मिश्रोऽस्ति भावो मनसश्च वेग ।
शिवे न तादात्म्यस्वरूपभावाद्, भवेन्न बाधा क्षणबोधदृष्ट्यो ॥२७॥

मिश्रेऽत्र कालेऽप्युपयोजनं चे-न्नासौ प्रभावः परभावजातः ।
जीवस्वभावोऽत्र तथाविधाने हेतुन चैव शिवस्वरूपबाध ॥२८॥

न जन्म तत्रास्ति ततो न काय-स्ततश्च संयोगवियोगजन्यम् ।
दुःख न सौख्य न निजात्मरूप-सुखोपभोगैकवसु परात्मा ॥२९॥

शिवः स्वरूपात्मकमेव तत्त्वा-ज्ज्ञात्वात्ममात्रिभिरवति स्वरूपात् ।
न तत्र यन्न पुण्याद्यभावात्, समभक्तमत्रलय तत स ॥३ ॥

यथाभावी यदि च सुगुणतो निचरा चेत् समस्ता,
श्रेण्यादाप्ते प्रवरगुणगणोद्भासिनीयप्रभाव-

नव्याना चेद् भवति न युतता कोऽत्र मोक्ष विलम्ब–
स्तत्प्राज्ञाना शिवपथचरणे शस्त एवोद्यमोऽत्र ॥३१॥

हितावगूढा हृतकमशात्रवा–प्राप्तस्वधर्मा शिवधामसङ्गता ।
भवन्ति ससारभृता सुमङ्गला, अर्थात्रयस्तत्र सुमङ्गलस्य वै ॥३२॥

स्वय भवद्यो भयलेशवर्जितो, भय परेषा क्षपितु क्षम पुन ।
शरण्यमेषोऽत्र शिव गतास्तत, सर्वाधमीतत्र्यतीता शरण्यम् ॥३३॥

लोकोत्तमस्य गुणराशिलब्ध्य, निष्पक्षवेषु प्रवरात्मभावात् ।
सदातना ऊननिपययोज्झिता
आप्ता गुणा येन कथ तथा ते (तदाश्रया) ॥३४॥

प्राप्य शिवस्याऽऽत्मुदासभावो, रत्नत्रयाराधनसम्प्रयुक्त ।
नान्य न वेषो न विशुद्धजाति–वश कुल नो भरतादिजन्म ॥३५॥

यथा गुडस्यापगताश्रयस्य, पूर्णाश्रया स्याद्विविधाऽसमाऽऽकृति ।
शिव गताना चरमाङ्गतुल्या–ऽऽकृति पर पूरणतोऽसमा स्यात् ॥३६॥

ज्ञाने सन्ना दर्शनसयुते परे, प्रयोगवन्त सुगसम्पदाग्र्या ।
सदैकरूपा स्मृतिजापचिन्ता–पूजापदार्हा भविना तु सिद्धा ॥३७॥

जैन स एष परमार्थतया शिवैषी,
मोक्षस्य मार्गमनिश पुरतो जनानाम् ।
यक्षिन प्रस्तुरतिको मुनिमार्गमथ,
शेष स्वनर्तमहित इत्मार्गधारी ॥३८॥

अष्टादशोऽध्याय ॥

। एकोनविंशोऽध्याय । ( अहिंसाव्रताधिकार )

जैना मन्यत आप्तिरेपु परमो नैयाघमुक्तिनणा,
पूज्याराध्यपदालिलीनमनसो ज्ञानान्च तत्त्वाजले ।
शुद्ध तन्मन उज्झतीह दुरित ज्ञान तथा तत्फल,
धमा हि प्रथमो मत स विनुधैय स्यान्छुमाचारवान् ॥१॥

शूद्रे सोऽधिपतिभवेद उदित-स्वाचारमग्नो भवेत् ,
मद्यो विगताघमन्ततिमलश्चारित्रमन्त्य दधत् ।
स्यात रूपमलङ्घयन् सुविहिताचार कषायोज्झित,
प्राप्त्यै तादृशमीश्वर जनिरिय मे धन्यतामाश्रिता ॥२॥

अभ्यासयन्नोभयसाध्यमाय रात्याय्यनुष्ठानमुदितिप्रतिष्ठम् ।
कार्ये समस्ते द्विविधो भवन्तु , सिद्धस्तथा साधकभावर्ती ॥३॥

सरज्ञा जितरागमुरयदुरितास्त्यक्ताऽशुभध्यायिता,
आचारेपु निरङ्कचारुवरणास्तत्सिद्धतामाश्रिता ।
ये तु स्यु सतत चरित्ररमणा कर्मापहारेप्सव ,
किञ्चिन्चित्तमसाध्यकमनिहिताद्वाध्य धरन्त पर ॥४॥

परैस्तीर्थ्यैर्दृष्टा अभिमततमा स्वर्गशिरद्वा-
स्तथा ये चोपास्यापन्मनुगता गुरुपत्न्गा ।
न नैषाश्विसेपा दुरितम्धिपरावृत्तिरणुरपि,
तथापि प्राधल्याज्ञ ( प्यहो वृत्तिन ) ननिवयगता-
जैनव्रतीनाम् ॥५॥

जीवाना हनन मयोक्तिरपरदत्त न यत्तद्महो-
ऽमज्ञाथग्रहण च पापसचितास्त्यागस्त्वमीपा वृप ।

न्य सत्यापि ( वस्तु ) चिन्तनपरास्तथा वचो मन्वते,
मिथ्या यत्र परीक्षेपु लभते रयाति व्यलीकोक्तिमान् ॥६॥

आश तत्त्व (धम) तथा मते यधर्मे नोक्त परैं किञ्चन,
तादृग्वाक्यमुदारभावभवन नैवाहिंता पालना ।
तोक्तान्यत्र वधस्य शुद्धविरतौ मत्साधनानि श्रुते,
मोक्षादिर्न फल मत यरतमाऽहिंसाहताना क्वचित् ॥७॥

जीवाना हनने सदैव निरतास्ते विस्मृता नैव त-
नैषा दुरितात्रचित्तवचसा प्रेत्याऽनुभोक्ता गति ।
समार सरण भयङ्करतर दुःखौघसदीपनाद्,
दिष्ट जीववधावलीढ़विधि शास्त्रे स्वकीये क्वचित् (नहि) ॥८॥

स्वरूप जीवाना विदितममल नैव कुमतै-
र्यत प्रोक्त भिन्न तदिह भवभृत्सु प्रभुपद ।
ततो भाव्य नै स्यात् त्रितयदलनाभिरनिश,
भवन्नत्र भिन्न किमुत नहि सभिन्नपदगात ॥९॥

रारम्भनेऽशेषकुतीर्थिकरिद, द्वयो वध प्राणभृता प्रकामम् ।
पर यथा नाऽस्य फलादिबाध-स्तथैव भेदोदितयोऽपि नैव ॥१०॥

गतीन्द्रियाश्च जिनपस्य शासन, भेदा प्रगीता न तथा परस्मिन् ।
प्रत्यक्षतत्वादिपरिणतीना, क्षित्यादिषु प्रेक्षणतोऽसवस्त ॥११॥

य स्थावराणा पृथिवीमुखाना, जीवत्वमाहुन विमुक्तयोधा ।
ते निष्करागि प्रविमुच्य शुद्वा, भवन्ति कार्पापणदानदक्षा ॥१२॥

यो जीवराशि प्रियताश्रिताना-मनन्तभागोऽस्य परोऽस्ति राशि ।
अन्योऽन्यगाहात्य पर न मत्त्व, भवन्ति तत्तेऽनिधना कथ स्यु ॥१३॥

मत्य गृहस्थं कृषिमुख्यरक्ते-वधो न चैषा परिवर्जितुमत्रम् ।
तथापि किं दोपकरैरदोष्ट्य, वक्तु नु शक्य शुभबुद्धिमद्भि ॥१४॥
षट्कायग ये परिवर्जयन्ति, वधं य्रनैयुमुनिभावयुमम् ।
गृहाङ्गनाङ्ग्यशरीरमौढ्य, त्यजन्ति मोक्षाध्वगमैरयुद्धय ॥१५॥
महाव्रत प्रोक्तमिद त्वमीषा, त्रिधा त्रिधा कालमदोषमूदम् ।
षट्कायिकाना वधमह् आढ्य, त्यजन्ति यावज्जीरमुद्धवाधाः ॥१६॥

नालम्भविष्णव इमा निखिलाङ्गिहिंसा,
हातु न ते गुमन्द प्रतिजानते ताम ।
शक्य न यत प्रतिपन्न पचनादिसक्ते-
मिथ्याव्रत च नहि ते प्रतिजानने वै ॥१७॥

वध ते त्रसाना निकल्पाञ्चिरागो-गत युग्मुद्धाय साद्रोऽस्त्यजेयु ।
पर भावना ते मदा धारयेयु, समाङ्गिश्रिते घात आशा मतान ॥१८॥
गार्हस्थ्यमाश्रित्य सन्त निर्हिंस्यु, त्रियादिकान् स्थावरभावमागतान्।
षट्कायगक्षोभनचेतसोऽमी नानर्थक स्थावरग च ह्न्यु ॥१९॥

एतेऽणुव्रतधारका यदि पर स्यु माधुभावोन्नता,
आरम्भानि विहाय सश्रितनुला कुर्युर्दशैकाञ्चिता ।
शास्त्रोक्ता प्रतिमा यदा स्थिरङ्गतो गृह्णन्ति सत्साधुता-
मन्ये तद्रहिता पुनर्मुनिपद शीघ्र महीतुमला ॥२०॥
नन्वेस्त्र विशेषण भवतु यो हिंसान्पापोज्झितौ,
श्राद्धानामणु वा महन्मुनिवर साधस्यमेवेन्द्रि ।
सत्य तद् गृहिणा न सवनियमाङ्गीकार आवश्यक,
साधूना निखिलास्त्रिधा त्रिविधया नैसर्गिकास्ते यमा ॥२१॥

अन्यच्चातिचरेद् व्रत मुनिवरो ह्येक तदा सर्वगो-
ऽतिचारो न परेषु शीलनिचयः स्युः सदा सर्वथा ।
तद्योग्य गृहिसाधुग सुपुरुषैयुग्म विशेषान्वित,
याऽपेक्षा श्रुतधारिभिर्नियमिता ता वेत्ति तात्पर्यवित् ॥२२॥

न सवतः पापविवर्जन मत महाव्रत किन्तु परापि सत्क्रिया ।
यतोऽभ्युपेत्यैतदुवाच साधुर्विहारमह ननु योजयिष्ये ॥२३॥

शय्या भूमौ नियत उपधिर्लुञ्चन कैशतन्या,
वैयावृत्त्य सकलमुनिगत सर्वेन पाठयत्न ।
आचार्येषु प्रथितगुणगणष्वर्पणीय स्व आत्मा,
धार्य सर्वा मुनिगण उदयी मोक्षमार्गे सहाय ॥२४॥

गृहस्थाना कश्चिन्न च परिचयो याचनमृते,
यत सेव्यास्ते स्युर्दहननिचय यद्वदितरे ।
सदाचारा रक्ष्या शिवपदकृते पञ्च विधिना,
न कार्यहं स स्यात् प्रमत्तसहित शास्त्रकथिते ॥२५॥

ज्ञात स्वुपाया मनसि प्रधाय, पैशाचिकज्ञातयुत मुनीन्द्र ।
सदा भवेन्न पाठविधौ प्रवृत्त , कथानके सत्पुरुपाचलेश्च ॥२६॥

यथा नृप स्यात् प्रथम प्रजाया, हितैपिताग् मुनिराडपीह ।
षट्कायराशे प्रयतो हितेषु, लोकोत्तराचाररहस्यमेतत् ॥२७॥

नैवाऽस्य शत्रुर्न च मित्रमस्ति, समश्च भावस्तदिवाहतेषु ।
जगज्जनस्तस्य हितात्तिपात्र, मानेऽपमानेऽपि समश्च स स्यात् ॥२८॥

असयमाद्य विधिना प्रनष्टा-शाशातनान्त मुनिरुग्रवीर्य ।
सन्तर्पनान्न च मते समाप्ते, शिवैककाङ्क्ष कुरुतेऽप्रमत्त ॥२९॥

प्राणातिपाताद्विरति श्रुतोक्ता, भावो वधो नैव च जीवतत्त्वे ।
भावान्वितेषु प्रत्ययोऽत्र द्वय-मनुक्तमेतद्धयभिधानमस्य ॥३०॥

अत प्रयुक्त श्रुतवारिराशौ, शुद्धे पर प्राणवधानुमत्या ।
नो चेन्ममेऽपि समानभाव जीवे हते स्यान कथमहमा भिदा ? ॥३१॥

पुण्याना निचय क्षयोपशमिताऽनन्ता च चेदात्मनि,
स्याद्वृद्धि करणस्य सन्ततिगता स्पर्शादिक सञ्ज्ञिता ।
तन्नाशे सकल बल विलयित तज्जीवग हन्तृभि-
रेव च गृहिणा त्रसेषु विरति शोभास्पद गीयते ॥३२॥

श्रायाया ननु जङ्गमेषु विरते स्यान् स्थावराणा वधे,
साधूनामनुमोदना भवरता त्यागस्त्वमीषा यत ।
सत्स्थावरजङ्गमाङ्गिविषयो ( हनने ) यावद्धन सर्वथा,
स्याच्चेषाऽनुमतिस्ततश्च विरतेर्भङ्गोऽतिदु स्वावह ॥३३॥

श्राद्धा कि त्रसराशिसङ्गतवध स्वीयेन तन्त्रेण ते,
प्रत्याचख्युस्ताऽनगारसमीपे ह्यधाऽपि नाह दिवदम् ।
यस्मात् स्याद व्रतधारण गुरुमुखात्तैर स्वय साधन,
तत्र स्यादनुमोदना स्थिरवधे दुष्टा गुरूणामपि ॥३४॥

सत्य चेद् गुरवो दिशेयुरखिल घात प्रतिक्षोचित,
नो प्राक् तत्प्रथमात् पर यदि तर्के प्राहु पुरस्तस्य चेत ।
त्याग स्थावरजीवगे प्रहनने स्युस्ते तदा दोषिता,
आरम्भस्य समर्थन न गदितस्तत्त्वतुमल्पोऽयम ॥३५॥

सत्त स्थावरहिंसनेऽसुनियम कर्तुं गतोत्साहक,
दृष्ट्वा जङ्गमजीवनाशविषया दत्तु प्रतिज्ञा पराम् ।
पुत्राणा हनन नृप. प्रयतते पण्णा लघु यागसि,
श्रेष्ठमेक तनुज धरन्न भवति द्विष्टोऽपरपूत्रमात् ॥३६॥

प्रव्रजता यतिना कुल प्रजहता दोषो न किं क्लेशज-
स्तस्येथ लपतो भवेद्गणपतेहन्या समा मोहिता ।
यद्वावाचनमेन तद्विधिकृत हान न मद्क्लेशिता,
ना मत्तेप्सितवस्तुदाननिपुणा प्राज्ञा भवेयुर्जन ॥३७॥

प्राप्तो दीक्षा निवृत्तिपदकरी सद्गुरूणा प्रसादात्,
त्यक्त्वा हिंसा सकलतनुभृता याति दशान्तराणि ।
नर्गोऽनेका स्वपरविषयगा उत्तरेस्स प्रचण्डा
इत्यादीनि हननविरतैर्बोधितानि न किं स्यु ॥३८॥

सत्र हिंसा सकलतनुभृता त्यक्तवान् प्रव्रजन् सन्,
तत्रोक्ते द्वे मुनिपतिमहिते कारणे कर्मबन्ध ।
रागो द्विट् वा नहि भवति मुनि सयमी तद्विलिप्तो,
यद्वत् सिध्यन् हृदसुकम्पयितो नापलेपेन लिप्त ॥३९॥

जैन स स्यात् प्रथिततममिद रोचयेत् सद्मत यो,
धन्य कुर्याद्विगतरतिको धर्मन पातनाया ।
सत्य यद्वत् प्रतनुनलभृज्जायते सद्यशोवा,
य स्याश्रित्य पटुतरकरणोऽभ्यासमेषोऽपि तद्वत् ॥४०॥

इत्येकोनविंश अध्याय ।

। त्रिंशोऽध्याय । ( सत्यव्रताधिकार )

द्वितीये व्रत योऽभिसन्धत्त आर्त्तिं-स्त्याग मृषावादमनल्प प्रणीतम् ।
जैनत्वयुक्तो मनुते सुधीश, य स्यात् सदा सद्व्रणेऽप्रमत्त ॥१॥

यदत्र लोका प्रवदन्ति सत्य, निरूपणीय, सदिद न चारु ।
त्रैलोक्यरोधोद्धुर आह विश्वे, कथ समग्र त्रिदिव प्रतिक्षणम् ॥२॥

वाच्य वदवाच्य यदय मता-न्नित न मत्साश्चिनमुच्यते खलु ।
एव प्रज्ञा येन्न वर यदय, न निधनो वाच्य इहामरद्वा ॥३॥

सत्यामृपालक्षणविप्रमुक्ता, भाषा सदा विश्वनरे प्रयुक्ता ।
लोकप्रवृत्त व्यवहारमात्र, कथ तदतद् व्रतभृत् प्रवक्ति ॥४॥

मृषावादयुक्त वचो वर्जनीय-मिहेति व्रते प्राहुरत्युग्रयोगा ।
निरुद्धा प्रतीति विरुध्याद्वचो य-द्वान्य वदतन्नहि शुद्धचेतसा ॥५॥

अतत्त्व तत्त्व यो निगदति परान् बोधविमुख-
स्तदाऽसौ मिथ्यात्वी भवति नियतानन्तभविक ।
मृषावादोऽप्येवविध इति पृथक्त्व किमु तयो-
र्न सर्वाऽस्मात् सदृग भवति विरतस्तत्कथमिदम् । ॥६॥

उपादेयमथ वर मोक्षमार्गे, यदद् यत्नक हृयनारूपवन्तम् ।
हेय तथा यत्नि पुर परेषा-मथ ह्युपादेयनयाऽऽप्तमार्गे ॥७॥

प्रत्याख्यया मृषोक्तिभवति जनहृदि बोधध्यान्ध्य यया सा,
प्रोक्त तस्मान्मुनिपतिभिरिद सद् द्वितीय नु ।
एव शुद्ध वचस्तु प्रहितमणुगो लोकमिथ्याप्रकारे-
र्निर्दिष्टे द्रव्यभागे रागरोषप्रयुक्तम् ॥८॥

घतुर्विध गीयत एतदाप्ते , सल्लुस्त्यसद्भाद्गनतो द्वय'भंवत ।
द्वय तु गर्हाऽर्थेपिधानतस्तथा, यथायथ तद्व्यवहारमार्ग ॥९॥

तत्त्यस्य गानेऽपि घतुर्विध तद्, हेतु फल चास्य सुमार्गलोप ।
गीता तत सत्यतया गिरा सा, याऽऽराधनीति प्रतिबुद्धमार्गे ॥१०॥

लोके यथाऽनुद्गत आह सूर्यं, समुद्गत ह्यस्तमित त्वमेतम् ।
गवाश्विवस्त्राश्रितमयथार्थं गुणान्वितस्यापि तथैव गर्हा ॥११॥

आराधनापक्षमुपेत्य योक्ता, जीवादय सन्ति न चैव लोके ।
असद्भ्यमाना भुवि लोकभागा, सतामपध्वाननमापलुप्त्यै ॥१२॥

सद्दृष्टयो ये वितथोक्तिशून्या-स्तथ्योक्तिशून्या अपि शुद्धदृष्टय ।
या गी' समाराधनमार्गरूपा, न ह्रेशतस्तत्र विरुद्धवाद ॥१३॥

शम्यौघवज्जीवदयाऽत्र मुख्या, व्रतानि शेषाणि वृते समानि ।
तद्घातकाले ह्यपवादभाञ्जि, प्रमादिरक्षार्थमतो मृषोदिति ॥१४॥

कृत्वा निवृत्ति प्रथमापधाम्न-श्च्छद्मस्थभावाच्च भवद् व्यथाऽस्या ।
ता शोधयेन्नैव मृषोक्तिमान् ना स्या'या ध्रुव सा श्रुजिनोपभीते ॥१५॥

यथादय' कृतनिबाधका' पर, गणस्य बाधा तनुते मृषोक्ति' ।
भुनन्ति विज्ञा व्यवहारजात, सत्यप्रतिज्ञ प्रकुते विवाद ॥१६॥

एकत्र सर्वाणि मनयुरह -स्थानानि, पक्षे पर उक्तिरन्या ।
तयोर्मृषोक्त्यावधिकाऽयताति-यतो न तद्वान् व्यवहृत्तुमर्ह ॥१७॥

जिनेन्द्रसूत्राद्विपरीतवादी, भजेदनन्तानि जनूंषि नित्यम् ।
बोधिर्भवदस्य यत सुदुर्लभ , परानृतोक्तौ तु विकल्पधाम ॥१८॥

थ नमुदूर्चाद्भवताद मुक्ति-मिथ्यादृशां यद्यपि शुद्धमार्गेण ।
न्मूत्रयाचा तु स एव दुर्लभो, भवेऽत्र तद्वद् च मयान्तरेष्वपि ॥८४॥

अतीतमद्रस्या परलोर्थिका जने, श्रुते तु मत्वा श्रुतमार्गबाधका ।
सौख्या यत स्वगुरुर्भेदिनो नरा, प्रपञ्चदम्भुष्य स्वारमण्डा ॥ ॥

गोशालको यद्यपि मृत्युकाले, मम्यक्त्वमासन्नपि प्रयाता ।
भवाननन्तान् जिनवीरवाचा-ऽन्यथात्वमौ मन्तामामभोर ॥८६॥

न्मूत्रयाचा न नरा परास्या-मात्वऽपि यमैव तद्गुणिमाभिता ।
श्रुतोक्तिबाह्या इति ते न जैना, अन्यथनाश्या इति शास्त्रकारा ॥८७॥

यत्र पृथक्त्वं न जिनागमाद्, चित्ता जनेषु व्यवहारिषु ।
तथाऽन्यपूर्वापरदव तरंग, कृत कृत कल्पत आगमानाम्

जना भवेद्दुर्नयाऽदुष्त-मार्गायथार्थी शुभचिन्तिकाश्च
अल्प, प्रभूताश्च भवेयुरह-दुर्वृत्तेनिमग्ना विपरीतभूत

यथा यशान्तो निखिलाङ्गिहिंसा-नियनत ऽसौ
तथाऽत्र ममागतो न सदा-श्रुतोक्तिहानी प्र

स्थूरात्प्रोस्तयितस स जहाज, कन्यापगुप्ति
शाक यथाऽसौ मयति प्रतीतो, न स्वामूद

जनऽपराधस्य विनिन्दितो यथा, कृताभि
सद्भिन्य न स्वान प्रतिभूस्तथा च, न्यासे

विचर्यनवमसलसुम, प्रमेण
भवेत्सयर्थ मिद्धानि दक्षता,

ज्ञेया जिना सुगुरवो त्रिविधाश्च धर्म-
　　भव्यैर्जिनेशगदिताऽऽगमशुद्धवाण्या ।
वेत्ता करोति विपरीतपदार्थनिष्ठां,
　　कोऽन्यो भवेत् सुकृतिनामपरो हि वैरी ॥२९॥

त्यक्त गृहं धनयुतं निजका जनाश्च,
　　दीक्षा धृता गुरुजनः परिचारितश्च ।
तप्तं तपः उदितमोहरजो विधूतं,
　　कृत्वा पुरो जिनपतेर्वचनानि चित्ते ॥३०॥

चेतांसि लोकरचनैर्न हृदि म्रियन्ते,
　　लोकानुसारकृतये निजमानसाऽऽस्थाम् ।
त्यक्त्वाऽर्हदागमगतां त्रिविधेन वृत्ति-
　　र्हाहा हताश! तदमार्ग पुनर्निमग्नः ॥३१॥

दुर्वारजन्मजलधौ शिवमार्गदायि,
　　जन्माऽऽश्रितो यदि ततोपि कुकर्मनाशम् ।
मार्गं जिनेशगदिते हृदयं समेति,
　　भ्रान्तं सुमार्ग उपयाति सुरत्नवस्तु ॥३२॥

यत्नमेव जनमानयतीह मार्ग,
　　दत्तोऽखिलेऽपि पटहो ह्यमार ।
लुप्त्वाऽर्हदागमवचो भववारिराशौ,
　　स्वाऽन्यान् जनान् निविशतो भविता गतिः का?॥३३॥

लोकोपकारकरणैकनिबद्धकक्षा,
　　मोक्षप्रवीणमतयोऽङ्गसुरस्थितेषु ।

शास्त्र विबुध्य तदपि वितर्योक्तिर्लीना–
मन्यानुकार उदितेऽयवरे मनो [illegible] ।   ॥१०॥

त्यक्त्वा राज्य राष्ट्रकोशादि दीप्त, हत्वा मोह निष्कषाय [illegible] ।
कैवल्य मन् दर्शयामास तीर्थ, तन्मुम्पन् हा [ मगर्मिरमनो ]
निधनो दैयतुल्लो ॥१ ॥

[illegible] मन्यधर्मं सुधमपन्ना मन्या सम तमना,
यो जैन स भवेद्गनय मुनिषु प्राप्तप्रमोऽभ्युदय ।
तदन्तु प्रभुतापदपु निहताघेपु प्रपृष्टा स्तुनि,
मयपु व्यसनेषु सुफलमना यो धर्मेण [illegible]   [illegible]

इति [illegible]

---

। एकविंशोऽध्याय । ( अस्तेयव्रत [illegible]

जैनोऽसौ मनुते तृतीययमं त्यागं परं [illegible]
यस्यार्पणमन्तरायधरणे तस्मा [illegible] ।
चेत्तद् गृह्णत आत्मलाभरसिकैर्दत्त न [illegible]
न स्याद्दोपभरस्ततोऽतियहुलो [illegible]   ॥ ॥

चौर्यं त्याज्यतया मतं परमते सार्वं [illegible]
र्विप्रेणाहृतकादि नोऽन्निमि [illegible] ।
यद् व्यवहारपरायणेन गन्ति चेद् [illegible]
चौरोऽसाविति नो [illegible]   [illegible]

माहे च धार्यऽपि भवेदत्ता–[illegible] ।
[illegible] गृह्यत उद्धृतं न, तत्मार्गे [illegible]

तिलापहाराय सुत प्रवृत्त-अकार चौर्यं नृपदण्डयोग्यम् ।
स्मत्वा स्ववृत्त जननीविरलप्त, स्तनस्य मातु परिवतन यत ॥४॥

समुत्सृज्य स्वाम्य स्वधनजनगत सत्रनिधया,
गुरो पार्श्वे दीक्षा यदि च चरितु स्वीयकथनम् ।
गृहीना यारत्तत्परमलगत जीवरक्षते,
भयशान्त्य सत्र यदि च भवतीहापितभुज ॥५॥

अतोऽहिंसा धर्म मुनिपतिगिरोक्त्या धृतिस्थले,
जगौ साधोर्भिक्षाचरणविधिग धार्स्यनिश्चयम् ।
परैर्तीर्थ्यैस्त्विषम्य मरलसदन स्वीययमने,
यत प्रोक्त प्राणारक्षरणतोऽथ नदि भवेत ॥६॥

भवेद् गृहस्थेषु पर मुनीना, भक्तानि आश्रार्थगतो निमानम् ।
तथाप्यन्ते च परिग्रहेऽपि, व्रतोद्यतानां नहि दुष्कर भवेत् ॥७॥

आश्रयाशननमनपानग, न केवल मुनिस्त्यजेदर्पितम ।
अर्पितेऽपि धनिना तदिच्छया, भोग एव यतिना व्रते रित ॥८॥

यत्र नास्ति धनिन क्वचित पद, मत्त्रमाश्रितावनाय तु ।
योग्यमेन तदपि याचित भवेन्धमहमहणमित्युमीय च ॥९॥

जिन प्रशासन मताश्चतुर्विधा, समर्थका
धनी भवो जिनो गुरुश्चतुर्विध । ततश्च तेषु याचता ॥१०॥

अन्तरायहानितो भवतु लाभ आत्मन-
मस्मद्दर्पणाद्विना महे तु लाभसाधनम् ।
परस्य सत्कसीप्यते विना व्रतस्य साधन,
तत्रापि लाभसाधन भवान्तरेषु लाभदा ॥११॥

यदपि साधनमिष्यत आहता, सन्ति सयमपोषणकार्यत ।
ग्रहीनमप्यणु तद् भवत, कुलगणाश्रितमुज्झितमाश्रये ॥१२॥

तनुमतोयचनानि परिग्रहो, गुरुपदेषु समर्पयतो न हि ।
अननुमत्य गुरून् स्वल्पमादरान्, धृतिरन्तपरिग्रहसङ्ग्रहम् ॥१३॥

अनुदिन तत आन्ति आदृता, मुनिजना सतत नितराश्रिता ।
गणिपदे बहुवलविधि व्यधु-र्भवति चैनमदत्तमसुज्झनम् ॥१४॥

स्वामिता तिरश्चि यावतात्मजीवन भव-
    स्तस्य पोहशाद्गिरा समम् पितुस्तु लौकिकी
        ( ऽन्वयात्युते च वर्त्तरि ) ।
भवेत आरत श्रुते मुन हि शिष्यचौरिता,
    सुमयमाप्य न तत्र रक्षण यथाविधे ॥१५॥

याचिन्याऽऽहृतिनम्रपात्रनिचय साधुर्न विज्ञापय-
    दाचार्यप्रमुख स्वल्पमरनिरुन्मत्तट्प्रहायान्नान् ।
यष्ठोऽस्मौ न मत शिवाभ्यगमन यत्र सा महारोधिका ॥१६॥

ग्रामो-ऽग्रामोऽपि मार्गेण भवति गणिनामाज्ञया वर्जितो तु
का वार्त्ताऽन्यस्य करणे चरणगतविधौ तस्य दन्त प्रभुत्वम् ।
कुत्राऽप्यर्थ यतोऽस्मौ न धरति तनुरु नैव गह्णात्यन्त,
दुःशस्य चेतदतत् जिनमुनिविधय सव स्वविभा वै ॥१७॥

मुष्णाति धाटी विजने धनेशान्, मुष्णाति चौराश्छलमाप्य लोकान् ।
विमुष्य लोकान् छलशक्तिहीना , सत मदीय कथयन्ति विप्रा ॥१८॥

न चोपकाराय जनस्य चौर्य, यतो भयात्तस्य भवत्यतन्द्र ।
धनवहन्नैव परार्थकारी, तथाऽत्र मुष्णन् परकीयमर्थम् ॥१९॥

राज्ञोऽपि दशेषु परेषु सत्ता-कृते समित्यादिकृतिर्न युक्ता।
चौर्ये कृतेऽन्योक्तिविरोधरोधौ, न्यायादपेतौ किमुत प्रदसा ॥२०॥

सुधान् प्रतार्याश्रय प्रतन्वन्, एतत् सहस्रगुणित प्रनाता।
भवे परस्मिन् सुरनेश इत्यपि, वदन्नहा! किं जनतारिताभाग् ॥२१॥

कार्यं निजे श्राद्धमदन्यमार्ये, परेतमातापितृपुत्रमुख्ये।
इत्थं वदन्तो नहि न्यग्धृष्ठ, निपिन्त्य लोकान् फलभाजन व्यधु ॥२२॥

मत्वा पाप चौरमाचय मूर्खो, पात श्वभ्रे निश्चित
लम्भितार (द्रुतत त)।
चेद्धर्मति प्रोन्य मुष्णन्ति मुग्धान्, काऽमुत्र स्याद्दुर्गतिर्मान्द्यानाम् ॥२३॥

ये त्व निगद्य परमेशतयाऽवतीर्णे,
भक्ताङ्गनाद् द्रविणमान्यवराङ्गनानाम्।
आदाय विष्णुवरिहाऽधमकार्यराहा,
हा हा! स्वभक्तमहिला कुगतौ क्षय मु ॥२४॥

भक्तान् मृतान् परगतौ सुरसाधनानि,
लेख्य विलिख्य परमेश्वरतोऽपयामि।
उक्त्वा हरन्ति धनसञ्चयमाश्रितेभ्य,
येऽन्ये मलिम्लुच इहाम इमेभ्य आत्थ (विषमवृत्त) ॥२५॥

एवंविधेषु कुमतेषु पतत्पतत्र, दृष्ट्वा श्रयेद् व्रतपरान् गुरुदेवधर्मान्।
जैन परत्र सुगतेर्नियमाद्धि पात्र, यस्माद्विशुद्धमतय
सुरसिद्धसौख्या ॥२६॥

यत्रापि शुद्ध धर्मं मत्वा, तद्वन्त समुपास्य सुभक्त्या।
गच्छति दिवमुदितात् शुभपुण्यात्, किमुताणुव्रतधरणे लीन ॥२७॥

शुद्धा यो विदधाति सव्यवहृतिं तस्यैव धर्मा वर,
पूजायामिव उक्त एव गुचिता भावाधिकारे सदा।
शुद्धिं सद्वत एव एव मुनिमिर्धर्माधिकारी मतो,
जैनोऽसौ भवतीह सद्व्यवहृतौ रक्त शिवेप्सुर्यत ॥२८॥

फलामधिका व्यवहारमार्गात्, गृह्णाति जैनो न परस्य पार्श्वात्।
फलार्थिनोऽन्यस्य न दुर्दशाया, घृणा भवेन् किन्तु परो हि तोष ॥२९॥

द्रव्यादिनाशे जनिते कुवृत्त्या-निमित्तेन लाभ प्रबल प्रतीच्छेत्।
भवेत प्रशमा जनिते सुपद्रवे, पाप च तस्या अपि घोरदुःखम् ॥३०॥

प्रयोजयेत् स्तेनविधौ न चौरान्, आनीतमर्थं न च तैं समघम्।
ज्ञात्वाऽऽददीताल्पधनेन नैव, समानरूप न दधीत वस्तु ॥३१॥

प्रजाभिषिक्तो हितकृत् प्रजाया, नृपस्तनोतीह सुनीतिमर्हाम्।
व्यतिक्रमेनैव जिनेन्द्रधर्मे, ज्ञात्वा सुनीतिप्रवर स जैन ॥३२॥

मान तुला नैव धरेद् विहीना-धिका यदतद् व्यवहारि चौर्यम्।
समाचरन् सद्व्यवहारमेव-सुपार्जितार्थेन सुपात्रपोषी ॥३३॥

न चैव धर्मार्थमुपानयेद्धन, चेत्तर्हि धर्माधमघानि सृजेत्।
मत्योर्निमीतो वृजिनाद्विवर्जी, भवेत् सदा न्यायपर स जैन ॥३४॥

कर्तारं प्रति गच्छतीह दुरित नास्तिक धर्म या,
सत्यप्येवमसौ सदा विहरति प्राप्याऽऽहत शासनम्।
न स्यात्तस्य विगर्हण नयपथोल्लङ्घनात परजार्हतो,
धर्मा येन भवेन् सुदुर्लभवरो जैनो रत स्यान्नये ॥३५॥

अन्यायागतमर्पयति सोऽर्थेशान् नयेप्सुरक ,
स्यान्चैत्यस्य विधौ क्षमो जिनपतेरर्चा विधातु यत ।

सद्धम्याप्रत उच्यते निधिपदऽर्थस्यास्य शुद्धि कृता,
तत्तत्स्वामिसमर्पणाद्भवतु मे मत्स्वार्पणात् सत्फलम् ॥३६॥

अन्यायोपगत धन न यमिनोऽर्थाय व्ययाय क्षम,
यच्चौर्यागतगोमयेन विहित भोज्य परा विकृतिम् ।
गत्वा चौर्यमति चकार मुनिपे हारादिराशे स्फुटां,
वार्त्तेऽस्मिन् प्रतिसञ्जहार वणिज त तन्नय साधयेत् ॥३७॥

जैनो यद्यपि साधन निमनुते सासारिकी सत्क्रियां,
सल्लोकानुगतश्च नीतिसहिता द्रव्यस्य सिद्धौ तकाम् ।
तत्त्वेनायमुपाहृतिप्रचयतो द्रव्यागम बुध्यते
लाभस्य प्रतिब धके विरचिते जैन परोऽसौ मत ॥३८॥

इत्यकविंशोऽध्याय ॥

---

## । द्वाविंशोऽध्याय । ( ब्रह्मव्रताधिकार )

मत ब्रह्मचय मर्मस्तीर्थनाथै , सदा मूलभूत सुधर्माङ्कुराणाम् ।
शिवाप्तिसुदृक्षस्य तज्जैननय-स्तुरीतितद्धरणोद्यत च प्रकाम ॥१॥

जायन्तेऽसुभृतामसङ्ख्यनिकराक्षाणाममेया व्यथा,
गर्भाङ्कितिभृता नृणा नवशनी बाध्येत सञ्ज्ञापरे ।
रक्षाणा विपरीतया नरभवे दुर्धायमेव व्रत,
तत्पष्ठप्रतिमाश्रितेऽपि कथित यावद्भव धारणम् ॥२॥

दया स्नापकयुगा प्रगान्ति रिय,
पैमानिका मयननाथगुवन्मकपा ।
ये दुगर प्रतमिद शिवसाधरोत्वा,
नित्य सुचेतस इह प्रविधारयन्ति ॥३॥

श्रीमज्जिनेन्द्रवितती इह एप पन्था,
हृद्वागमेन यदर्गा पस्मानीमश्च ।
विद्वद्भिरैद्यमपोऽत्र पुनश्चतुर्थ-
स्त्योऽप्या मयाऽगमपवादपथस्वरूपः ॥४॥

मोक्षाध्ययायिननताविदिम ममम्-
जैनागमै सततवारितमेतदद्द ।
रागाद्विपारिगृम एपदुर्गयत न,
मोक्षाध्ययानपरमारिसमो यमर्गा (य र्गा म ) ॥ ॥

दिनय मरल्नानिर्गानिभिताना मस्तारिणामिह पर नरश्रातिमश्च ।
गानि रोद्धुमन्मेनयुद्धिस्वरधारासागमोदिममर प्रनमादयीन ॥६॥

यस्याश्रिन विवक्तमस्पदमला मपूर्यिमा च श्रिया,
कस्माश्रिन्न रिगारथलगा मस्पलतेरान्तरम् ।
तृवे हेय भरमलेरतु पुनश्चष्टा विचित्रात्मनो,
श्रद्ध स्यात्तरत्नमतु न तु पुन दोपऽग्निसाथ चरिर् ॥७॥

मोक्षो यत्नपि लभ्यते प्रतथरगास्तागमोदीरिते-
स्तत्रापि प्रद्यमैरदैगुणमल प्रधय मत्कारणम् ।
यत्तित्लन्नारमन्मधारणपरो मुक्ति न चैवाम्नुम,
कामोद्रेकपरम्नदत्र न मत गिद्ध द्वितीय पदम् ॥८॥

संसर्गतोऽत्र वनिताजनसम्भवात्तु,
शेषाघसङ्गतिपदानि न दुर्लभानि ।
पापप्रचारणपदं प्रतिबुध्य तत्तत्,
त्यागो जिनेश्वरमते प्रथमो मतोऽस्ति ॥

मैथुनं भवति तत् त्रिधा त्रिधा मनोवचस्तनुभिराप्तसङ्गमे ।
यत्कृतं स्वयमपि च कारितं शस्तमेतदपरं त्रिधा पुनः ॥१
यद्यपि पुनरिदं त्रिधा भवेत् मानुषामरपशुप्रभेदतः ।
धनगणाधिकारतः पुनर्द्विधा वैक्रियं परमुदारकायजम् ॥२

भेदा अष्टादशामी प्रवरगुजिनदान्तेन नाथेन आप्तै-
र्भेदा अब्रह्मजाता श्रुतनतिततने स्पष्टमुक्ता मुनीनाम् ।
भेदास्तावन्त एव प्रवरमुनिवरैर्ब्रह्मचर्यं हि प्रोक्ता,
आदेया धर्मबुद्धैर्यदि शिवगमनं प्रेप्सितं स्यान्निरागः ॥३

स्त्रीणां कृते जगति देशधरेषु पूर्व-
मङ्ख्यातिगा जनविनाशकरा महान्तः ।
यद्धिमहाम्नदवबुध्य नरः सुखार्थी,
कुर्यात् सदा विरमणं परदारसङ्गात् ॥४

विश्वेश्वरोऽथ वचनातिगकीर्तिपात्र,
सानिध्यसम्पदधिको नियमान्तोऽपि ।
सैन्य प्रचण्डप्रलयत् सततं दधानो,
हा ! रावण क्षयमितः परदाररक्ते ॥५

धिक्यासीद् दन्शीलमानमधरो राज्या कृतान् सोढवान्,
उपसर्गान् विविधान् सुदर्शन इति प्रौढेन नाम्ना पुरा ।

यद् दृष्ट्वा नृप आश्रित मुनिसम त श्रामयित्वा भृश,
जाता चाऽमरससन्य सुरता गाने प्रनम्य स्थिते ॥८५॥

यद्यपि प्रतिव्रत मुनीश्वरैस्तु भावना ,
पञ्च पञ्च कीर्तिता स्थिरत्वसाधनाय ता ।
दुराचर मत त्विद जिनेशशासनाधिपै-
स्ततोऽधिका मता नरैर वृत्तयोऽत्र वाच्यये ॥८६॥

व्रतेषु शेषेषु निरावनोत्थितौ, यथा मता साधुपङ्क्तिभावनै ।
श्रोयाऽत्र तावत्स उदित्वरो नहि, वेन्नो यथा स्यान्न हि वृत्तयन्नथा॥८७॥
नैरन्तरासौ ल्ठनानन्तर, नाऽस्या पुरो वा कथयेत कथां न ।
नासीत साधुस्तकयैक आसने, निलोकनीयानि न चेन्द्रियाणि ॥८८॥
कुड्यान्तरस्थो न भवेत्तु तस्या , स्मरेन्च नैरामरतिक्रियायः ।
उन्मादकारीणि न चाश्नुवीत, वह्वाशनो नन भवेच्च साधु ॥८९॥
उदीरित येद इमा न किन्तु प्रागेव रक्षाकरणे समस्त ।
ता वृत्तयो यत्प्रभव वणाना, क्षेत्रस्य शिष्टा वृतिरा [illegible] ॥९०॥
मुनीश्वरा पञ्चमहाव्रती सदा, शिनाप्तिकामा निर [illegible]
तथाऽप्यनन्य अगुणाप्तपादा , सद्ब्रह्मचर्यं वह [illegible] ॥९१॥
स्थितो जिननोदितसाधुमार्ग, तप प्रभावात [illegible]
तथापि योषेप्सुरवाप पात, धर्तार एतस्य [illegible] ॥९२॥
गुरौ कुले वास उदीर्यते ह्य , सद्ब्रह्मचर [illegible]
साधो समग्रा मुनिमार्गचर्या, श्रान्त्या [illegible] ॥९३॥
स उत्तरत्वेन मत तु धर्मे, गुणोऽस्य [illegible] ।
तथा च तत्त्वेन निरक्तताया, मूलस्य [illegible]

निवृत्तिरूपाणि महाव्रतानि, ततो मिथुनाद्विरतिन्यगादि
गह्याथनत्व गुणताऽऽत्मतत्त्वे, न तत्प्रतिज्ञा न भव च यावत् ॥२५॥

हिंसादिवच्चेदमघस्य धाम, लोके प्रतीत मिथुन ततोऽस्मात् ।
प्रसिद्धरूपा विरतिर्जनेषु, लोकोत्तरे चाध्वनि सुष्ठु गीता ॥२६॥

मानुष्यक ब्रह्म समाचरन्तो, नराश्च्युत तत्तु विहेडयन्ति ।
तल्लोकवृत्तेविहित न तत्त्वाद्, यथादसूना विनिवृत्त्यभावात् ॥२७॥

ये ब्रह्मचर्यात् परिभ्रमिमाप्ता , सद्ब्रह्मचर्यान् यतिन पदेषु ।
स्वीयेषु भ्रष्टा परिपातयन्ति, प्रत्यापि तपा न घृणाप्तिगर्ह्या ॥२८॥

अमैथुना सन्ति दिवौक आशा ( सुधाशनाद्या ),
पर न तेषा घृपलाभ उक्त ।
भवस्वभावाद्विरतिन तेषा, तस्या अभाव न च सवृतत्वम् ॥२९॥

कृतेरभाव यदि स्यात्तु सवरो, व्यक्तेन्द्रियाणा सविशेषन स्यात् ।
एकेन्द्रिया सभ्भतरा न कश्चि-न्निवान्ति ते नैव परेभ्य हिंस्या ॥३ ॥

प्रतिक्षण स्यु परिणामभेदा , स्थास्नुव्रते स्यादुररीकृते तु ।
विना प्रतिज्ञा करणैर्न चोक्त, प्रामाणिकत्वेन लिखेत्कदाचित् ॥३१॥

ननु व्रता जीववधाद्विरक्ते-र्गताथमेतत्कथमुच्यते वे ।
यतोऽङ्गिना स्यादवपद्गमाना, वधाद्विना नव भवेत्तु मैथुनम् ॥३२॥

सत्य जिनाना प्रथगेतदस्ति, न मध्यमाना जडताभृता पुन
रान्त्यतीर्थे यतिना निमित्तम् ॥३३॥

गत्वत्सु घात न ऋजु प्रयोग , कायेन वाचा मनसा च कश्चित ।
न चात्र वीर्यन्त उपद्रुताद्वा स्तेनेदमुक्त प्रथगेव विद्धि ॥३४॥

परिग्रह स्यादल्पनाङ्गसङ्गो, स्वीये पराक्येऽपि समानमेता।
तत श्रुते तद्व्रतपाठ एव, विभिन्न उक्तो मुनिभिर्द्वयोस्तु।
भवद्भिरत्रियतिना बहिर्द्वा-दानाद् द्वयोश्चात्र समागम कृत ॥३५॥
विधा त्रिधा यतिनामिद पुन, श्राद्धास्तु विविधैरमिमहे।
अणुव्रतेऽस्यास्त्यतिचारभावना द्विभैकधाश्रित घुरघुरोन्विता ॥३६॥

जैन सम्यग् विशन्मनसा सस्तुवीतास्तवग,
यावज्जीव धरति शिवद ब्रह्मचर्यं पराख्य।
श्राद्धान् काँश्चिद् व्रतरतिमनस शक्तितस्तद्व्रतश्च,
ससाराब्धौ जनुरिदमनघ दुर्लभ प्राप्तुमेतत् ॥३७॥

इति द्वात्रिंशोऽध्याय।

---

। त्रयोत्रिंशोऽध्याय। (अपरिग्रहव्रताधिकार)

जैन स एव मनुते गतकिञ्चन यो,
मोक्षाध्यसाधनपटु निजमुक्तिसिद्धयै
(रागद्विषान्वितमेतदपूरजालम्)
यस्मिन्नरेश्वरसुरेश्वरसन्तति स्यात्,
प्राप्तावतारमतिसङ्कलिताऽघपूर्णो ॥१॥

अन्ये महा परिमिताश्रविचारिण स्यु,
काल चरन्ति निजगाशिगतास्तु त तम्।
यस्य गतिं क्वचिदमी दधते खराशौ,
किन्त्वेष सर्वविषमो ग्रह उग्ररूप ॥२॥

प्रेत्य महाते न तु साद्धसधा , न गमगाना प्रचरन्ति सार्धम् ।
स्वस्यैर ते तन्यत आधिजात, कदापि सम्पत्तिमतुल्यरूपाम् ॥३॥
अय तु सर्गासु चरन् न्शासु, स्निपाक्नत स्या च भुवे सुराय ।
अन तु स्वार्पणत परोऽन्स्ये, परो न सरत्नमूतेऽस्ति(स्य)वे (भे)त्ता ॥४॥
अनादिकाली समस्तजीव–राशिरथ आध्येकपद नगणाम् ।
एकादश स्थानमितोऽपि साधु , प्रत्येति तस्मादपि मूलमायम् ॥ ॥
अभयजीवा परिपाल्य शुद्ध, चारित्रमान्य सुभलेश्ययाऽऽन्तम् ।
पुरा पुनर्भ्रान्तिमनन्तकाला, सन्ना भरतीह परिग्रहेण ॥६॥
सन्ना ग्रह निग्र उदितस्त्र न, नर प्रयातीह सदा ग्रह त्नमुम् ।
स्याग्मत ग्रोऽपि गतात्मतन्त्रो, वेन्यात्मतत्त्व निश्चितामतत्त्व ॥७॥
लोकोत्तरेऽय त्रिविधे सचित्ते–ऽचित्त च मिश्रे द्रविणे प्रगीत ।
भाव च तत्त्व कथित जिनेशै , मून्र्छान्गोद्ध द्रविण त्रिलाम्य ॥८॥
अशोकवृक्षादिमहर्द्धिमत्त्व, पर शताना यतिना प्रभुत्वे ।
अनन्यरूपा ग्रहवोऽतिशेपा , निस्सङ्गचक्रेप तथाऽपि गीत ॥९॥
अत स्वकीयाननगारिणो न, हठात् क्रिया कारयतीह सूरि ।
एते मदीया इति वक्ति नैष, परिग्रहप्राप्तिभयाकुलत्वात् ॥१०॥
आदेशदाने यतिना तदीया, यान्त्यामधिप्राप्य न चेतस पिङ्ग ।
आज्ञापयित यपन न तेषा, परिग्रहान्त इतिता च नैवम् ॥११॥
साधवो विदधति प्रभून् प्रति, मागण प्रतिक्रिय न तद्धठात् ।
यद् विदन्ति तन भाविता, यथा ततो मुनीशवाचया प्रवर्त्तनम् ॥१२॥
प्रविव्रजन् श्रीजिनराजपार्श्वे, यदात्मनाऽऽख्याति भविष्यदिच्छाम् ।
तदापि साहाऽत्र न विघ्नकार–स्त्वया विधेयस्तन सौम्यवृत्ति ॥१३॥

धर्मार्थपापप्रतिषेधकारणं, महाव्रतोच्चारतदर्हशिक्षणम् ।
सूत्रार्पणं शिवमार्गनार्तौ, परिग्रहित्वं नैरतमेष्वमीषु ॥१४॥

स्थानेषु धर्मस्य ममत्वभावं, धरन्नपि स्यान्ममताप्रमद्दी ।
परिग्रही यन्नहि धर्मधाम, प्रमादपोषाय जिनैः प्रगीतम् ॥१५॥

कुलीनता बुद्धिरनुत्तमा यदि, धर्मं च बाह्यभ्यकमग्र्यमाप्तम् ।
पराभिभावाय यदि प्रयुङ्क्ते, तान्येव तस्य प्रभवन्त्यपायं ॥१६॥

गृहीतिराऽऽदाननगारिणा या–ऽऽहारोपधे स्वीयशिवाप्तिसिद्ध्यै ।
परिग्रहो नैव, यतो ग्रहो न, प्रयुक्त एव परिणा सहात्तं ॥१७॥

पराणि पापप्रवणानि यानि, धामानि नो तान्युपमगतन्ति ।
ततोऽपरार्थीयपदं निरुद्धे नाशोऽपि नैवात्र परे परत्वे ॥१८॥

एवं विनादबहुमानवृत्त्या, स्मृत्वा च तेषाममभोपकारिताम् ।
आराधको–र्चादिरपूजनाय–मर्चामुखस्यादरभृद्विदध्यात ॥१९॥

न तत्र तत्पापपरं परत्र, वेत्त न दोषश्च गुणोत्तमानाम् ।
देवशरीरौ प्रतिमाहत्त्वा, निषेधयन्नो किमघप्रधानः ? ॥२०॥

आद्यस्य धर्मोऽस्थिरजन्तुरक्षा, सदा प्रवृत्त क्षितिसुरयनाशे ।
पूजाहतौ योग्यपदानुसारा–दहद्गुणार्पत्र भवन्निमग्न ॥२१॥

यथा प्रसाना हननान्निवृत्तो, मंत्रे च मासे च मदैव मीत ।
यथा तथा नो भरतीह मैथुने–ऽधिकेऽपि मानुष्यनधापलेपे ॥२२॥

नाज्ञानभावो न च निर्दयत्वं, गुणैकरागः प्रभुपादयोः पुनः ।
न च मुनीनादिनतिः शिवाय, तत् कर्मनन्धस्य यतः प्रशसा ॥२३॥

नेर्यापथो बन्ध उन्स्य क्षीण–कषायिता सा च न दीर्घकाला ।
विहाय सार्वद्यधर ततोऽमी, सप्ताष्टबन्धा नियमाद्भवावली ॥२४॥

मत न निर्वासस उद्यमाद्वा, शिवाय योपक्रियया योपयोगि ।
सत्सयमे स्यादुपकारक त–ल्लिङ्गाच्च धर्मान्च बहिर्भूतासन ॥२५॥

न भावलिङ्ग नियत तदर्या, नान्येऽभिनिवेशश्च मत ह्यमीषाम् ।
ततश्च केवल्ययुतां शिवाप्तिं, निषेधयन्तीह दिगम्बरा स्त्रियाम् ॥२६॥

नार्या यत स्यु शिवसाधनक्षमा, विहाय वासासि तदीयधम ।
न चाङ्गनाना गतचीवरत्व, न तैर्जनपु प्रसूतैश्चि योगिनी ॥२७॥

सत्साधनानामुपकारकतृता–मुदस्यता तेन निराकृता समम् ।
ईर्यादिका, येन न ता भवन्ति, जिनोपवर्तून् प्रयतात्मनामपि ॥२८॥

गृहान्यलिङ्गेषु शिवाप्तिभावो, माधुकरी या च मुनीशचर्या ।
तथा जिनार्चा नयनादियुक्ति – र्न्यषेधयेत् सर्वमिद निर्बुद्धि ॥२९॥

ये लुम्पका कुर्वत ऊननाम्ना तपो यथोक्तोपहृती प्रतीक्ष्य ।
दयामुपास्ते धर्मद्विना यतो, जिनान् विहायास्त्यरमो न नासु॥३ ॥

अणुव्रतेऽस्याऽऽद्रियते स्वरेच्छा, मानाधिकस्य विरति प्रहस्य ।
इच्छा यत प्राप्तधनानुयाता, सदा न सेव्यस्य मत प्रनत्वम् ॥३१॥

महऽव्ययस्यामत आचरेन्न, क्षमादिभेदपु परिमहेषु ।
अन्यान्ययोगाक्रयणप्रकारान्, स्तुल्यः स न्याणुधरोऽपि सद्भि ॥३२॥

वदन्ति केचिज्जठरादिपूत्त – रारदयकोऽधम्मत आदराथ ।
मिथ्या, यत सन्ति जना अतृप्ता , समृद्धिमत्स्वीश्वरनिर्जरेषु न
( चोऽमरनायकान्यथा ) ॥३३॥

अ यानि पापानि समाचरन्त", प्रवृत्तयोगाम्दुपादनाना ।
गृहीलमर्थं मनसीहयित्वा, पुरश्च पश्चाच्च वृथाघचित्त (चेता)॥३४॥

रौद्र ध्यान लीनताभाग्गनेपु, धत्तेऽप्राणा पुष्टयेऽर्थं प्ररक्षन् ।
मत्वा याति तादृश कुत्सिताया, तिर्यग्जातौ लोभरम्भापरायाम् ॥३५॥

जीरो हेर सम्लमरगता एति ताला व्यथा नु
सङ्गाछोरे म्वननरहितस्तासु तासु प्रदिशु ।
आत्त सङ्ग म्वननविधये नैव ( त ) भागकाले,
दुःख लात्वा ( परवशगता ) नैव कुर्वन्ति भागम् ॥३६॥

जैनोऽसौ य सदा स्याद्गतधनकनके रक्तचेता मुनीशे,
दानाह सङ्गत सत्कृत्त उन्तिभा गहकाय निरीह ।
शस्तेऽसौ तोपमेत कुमरपन्गत त्यक्तरा याहमान,
सन्तुष्ट सर्वदाऽसौ जिनपदरमणो मोक्षकामो महात्मा ॥३७॥

इति त्रयोदिशोऽध्याय

---

। चतुर्दिशोऽध्याय । ( जिनबिम्बाधिकार )

जैनोऽसौ जिनराजिपादकमले भृङ्गोपमानश्चरेन,
धत्ते ध्यानमनारत प्रभुपदोर्माआप्त्ये [illegible]
लोकेऽसौ खलु दुर्लभो भविजनाम्भोनिप्ररोव [illegible]
र्यत्सङ्गादपरेऽपि भ यनिवहा [illegible] ।

प्रतिदिन प्रग आदरत पठे-च्छुचिमना [illegible]
यदि पर मनसा शयने स्थित , परर्दि [illegible]

भवति नैव विधिं चरता नृणा, श्रुतगताविधिजातमघ पुन ।
यदि च कष्टतमा तनुजास्थिति-नहि सदाऽविधिरात्पदसहसाम् ॥३॥

सा मङ्गल प्रविदधातु जिनालिरग्र्य,
स्वर्गापवर्गसुखदानपरा जनानाम् ।
या दुष्टकर्मकलिलावलित परस्मा-
दस्मा परा न शिवगा न च पूज्यपादा ॥४॥

गर्भावतारसमये जननी प्रसुप्ता,
याऽदर्शयत् सकलजन्मगताङ्कधात्रीम् ।
चत्रचक्रिताद्धिकनीतिधरा चतुर्भि ,
स्वप्नालिसुद्धरवृषा न्दर्शाभश्च युक्ताम् ॥५॥

जिनवरा निलरागमदा सदा, भविजनान् सुरतालिपरीश्वतान् ।
दुरितकर्मभरान सुगमाध्वना, विदधतु प्रवरोद्यमशालिन ॥६॥

अतिप्रभाते जनतान्दकन्दे, माङ्गल्यसौख्यैकधनप्रकाशम् ।
समप्रधस्र गतविघ्नराजि, कर्तारमाप्त सुरन्र धरद्धै ॥७॥

त्रिलोकनाथांस्तत आप्तबुद्धया, हृदम्बुजेशे धरति प्रगेऽग्रम् ।
परो न तेभ्यो जगदर्थकारी, स्वर्गापवर्गप्रद एव नास्ति ॥८॥

मुख प्रगे पश्यति सज्जन सन्, सस्ततैराननीतिरीते ।
असङ्ख्यकाल प्रभुता जिनस्य, निचिन्त्य वस्त्राब्जमुपस्य चेक्षे
( पश्यामि मुखाब्जमस्य ) ॥९॥

शास्त्रे यद्यपि सर्ववस्तुविषय न्यासे चतुष्क मत,
भावोऽर्थाकर उच्यतेऽर्हति पर पूज्या समेऽमी यत ।

नास्ति धीमति नस्थिता शुभमना [illegible],
    महन्त प्रतिमा सुगतुलतै [illegible] ॥१॥

निरन्या धरमाधीर्पितर [illegible],
    त द्रव्ये न तु [illegible] शिरदिन [illegible]।
सिद्धान्तु धतुषु [illegible]
    सर्वा पृथगमा [illegible] ॥[illegible]॥

अन्ये यत्रपि सम्भवेयुगमिला [illegible]
    [illegible] पर न तु [illegible]।
नानागिध्या [illegible] पुन [illegible],
    तथिक्षेपगता [illegible] ॥१०॥

तस्मात प्रणमामि शुद्धमनसा [illegible]
    निक्षेपस्य चतुष्टी महत [illegible]।
श्रुत्वा धर्मयापनु सुगतो [illegible]
    गद्रौ द्रव्यनिनस्य [illegible] ॥
    [illegible] पुन ॥११॥

गर्भावतारसमयात् [illegible]
    [illegible]।
प्रागुत्पत्तोऽमुमियन [illegible]
    [illegible] ॥१२॥

इत्था समसा भगवन्तमुपु[illegible]
कल्याणकाना त्रिनय पुरस्त, [illegible] तु भाषत [illegible]यिषयीन्।
आहत्यमुक श्रुतवन्मायां, [illegible]
सोऽन्येधिनो लाभ [illegible] ॥१३॥

तदेतच्चतुष्क जिनाना नवन् य , स नित्य भवेद्धन्यमानी सुनैन ।
न धार्यो न नम्यो न नप्यो न पूज्यो, भवेत्तस्य देवोऽपर कर्मकीट ॥१७॥

दर्शनशुद्धिकृते करोति सतत तीर्थेश्वराणा महान्,
ससारोत्तरणैकमाधक्तम तीर्थं तदीय परम् ।
भ्रान्तोऽय भववारिधौ जनिमती कुर्वन्ननन्तान् भवान्,
यत्तान् प्राप्य तदीयतीर्थममम स्यात्पारग सेवनात् ॥१८॥

यथा यथा गुणोत्तान सुसेवया भवत्यय,
जिनोंस्तदात्मसश्रितान गुणान् निचिन्त्य मानसे।
तत्र पूरकारण तथा तथोन्नये यदा–
यदाऽऽत्मचिन्तया भवेत् क्षयस्तु तद्विरोधिनाम् ॥१९॥

यथाभिधानस्य महान्त आत्या, गुणा स्मृते सिद्धमिद जगत्याम् ।
एकस्य [चत्] सगुणकपदार्थजाले स्मति स्मले फारयतापद गता ॥२०॥

अर्थोऽसौ भवति प्रतीतविषये कोपान्न मता विदन्,
सिद्धाया तु जनै भवेत् स्फुटमते सत्या प्रतीतौ गुणा ।
चित्ते तत्र गता यदीह निपुणा किं नाधृतिस्मरा गुणा ,
स्मतव्या हि भवन्ति वेदयवे निश्शेषशुद्ध किमु ॥२१॥

सर्वेसजिनविम्बसन्ततिरता देवासुरैर्मानुपै ,
स्तुत्यर्चासुखसाधना सुविदितै विन्नाऽऽदरादान्ता ।
स्पष्ट सर्वजनेपु यत्प्रतिमया सिद्धाद्विपोषोऽभव,
तद्वद् द्रष्टुमिहास्ति नैव जिनपे भावाश्रित शक्यते ॥२२॥

मूर्तिर्जिनाना शमलीनरूप, मुखेन वक्ति प्रशम दृशा तु ।
अङ्कोऽङ्गनामङ्गविरक्तचित्त–माख्याति युग्म करयोररागम् ॥२३॥

नामासमेत जिनम्प्रियुग्म, दृष्टिश्च कोपादिविमुक्तसङ्गा ।
चिह्न च किञ्चिन्नहि विग्रमात्रे, रागस्य रोषस्य च लेशतोऽपि ॥२४॥

तद् दृष्टमेतद् भविसार्थमाला, स्फलन्ति साक्षाद्गतरागता विभो ।
न ह्यन्यतीर्थ्या विनरामुद्रा-मुपेतुमर्हा शिवदा कथ ते ? ॥२५॥

सिद्धन रूपेण तदात्मजेन, यथा तथाऽर्हत्प्रतिमा नु युक्ता ।
साध्य तदङ्गस्मि मुदयमाना, स्यादर्हद्रूपानुगता मत सा ॥२६॥

यथा यथा ता प्रतिमामनङ्गा, जिनेश्वराणां निपमानरूपाम् ।
तेजा तथा तस्य गुणप्रवृद्धि, पश्येन्तमा मुहुरात्मरूपाम् ॥२७॥

नामाऽऽहन्त्योदग्लान् तीर्थराजा, भव्याना स्यात् सद्गुणाना त्वमीषाम् ।
स्मृत्वा युक्त ध्यानमावश्यस्य स्या , युद्ध तस्माज्जिनवनिमुखस्थान-
दृष्टयदतद् । वृत्तेनैषा शुभगुणजननेनाधित सर्वथाऽस्ति ॥२८॥

यथेतिशासोऽप्यजनुष्मता कुले, गुणप्रदीप्ति तनुते धनूनाम् ।
यथाऽप्रजाना प्रसराधिधाम, द्वय तदतत् खलु तीर्थदृष्टौ ॥२९॥

पाश्चात्यानां धूपममिल्पतां दर्शनस्यामशुद्धि,
कर्तुं दक्षा श्रमणपतिगिरा श्रावका सत्यभावा ।
तीर्थान्यन्याधिदृतमुरहन्तीन्यथपूर्व्ययन
चक्रुस्तेभ्यो मत्रशननिचित पापपुञ्ज प्रयाति ॥३०॥

सूत्रे प्रोक्तं श्रुतधरगणधोऽनेकदेशेषु गच्छन्,
छभाऽऽगाढ (दर्शन) जिनवनिमुखता पात्रनासीधयर्थान् ।
स्पर्शं दश जिनगुणगण धारयन् भूतपूर्वं,
य स्यात् साधुर्दतरचियुक सूरिपट्टे स योग्य ॥३१॥

आर्हन्त्यस्मादविमलमतिभि मोज्झ्य ससारजाल,
तत्तत्तीर्थान्यमलविधिना सेवनीयानि शुद्धयै ।
सम्यक्त्वस्येतरगुणसहितस्याप्तिशुद्धी दधान
युक्त सर्व स्वजनविषयैरद्धिकन्छामनन्य ॥३२॥

निर्दिष्टा श्रीप्रवचनपटुभिम्भीथसैनेन यथा–
ऽऽकल्प सद्दृग्धरणनिपुणमतेस्तत्र यत्कामितानि ।
स्थमोद्धारो प्रवचनपदुता भक्तिमाहन्त्ययुक्ते,
स्युम्नन्काम सुकृतसमुदयी सेवत तीर्थंगाम ॥३३॥

उत्यमेनमुदीत्य मनीषिभि–नयकृते सुधिया फल्मीरितम् ।
षट्गुण जिनचैत्यसमुद्धतौ, प्रयतते यदि तत्र नृपोद्धुर ॥३४॥

तीर्थानि तत्र विविधानि पुराकृतानि,
स्युर्नाघकालललितानि समुद्धतानि ।
हेतु फलस्य भवतीह समुद्धृति सा,
सम्यग् दृशो य इह प्रेत्य सुखाप्तियत्ना
( प्रभावमागल्भ्या ) ॥३५॥

यथैवाऽऽहता भक्तिरत्यन्तभद्रा, भविष्यद्जनताना समुद्धारिका यन ।
तथैवाऽऽत्मधाम्यथयुक्ता यत सा,
सन्त पुत्रपौत्रादिहितोद्धुरा स्यात ॥३६॥

बालाना सरणिर्विचारनिपुणाऽन्यानुश्रिता तु क्रिया,
कुर्युमन्यदि धर्मकर्मणि रत बिम्बार्चने तत्परम् ।

पश्येषु स्वपन, तत स्वयमपि तत्रोद्यता स्युरर,
तच्चैत्य गृहदशभाग उदित कुर्वन् कुटुम्ब धरन ।
( निर्ज्ये दधन् स्वजनग धमप्रचार दर्शे ) ॥३७॥

जनाना सार्थोऽय निजनगरगाना समभुवा,
स्थितिं वृद्धिं रक्षा यदि च मनुते कनुमसमाम् ।
यदैकस्मिन् स्थाने मिलति जनतोद्धतिपर ,
तथा जैन सार्थोऽत्ययकृतमतिर्श्रैत्यमयति ।
( तदथ चैत्य किं न भवति भविना सुकृतिगतम् ) ॥३८॥

अधिष्ठात्रा शून्य भवति भवन नैव रतिद,
सदा सेव्यो नार्हज्जिनपनिचितैरस्ति मनुज ।
तत स्थाप्यो भव्यै स्वजनतृपदनेऽस्मिन् जिनपति-
स्तदर्चायाँ नित्य तनुत उपमाया परमिताम् ॥३९॥

आरम्भोऽप्यनन सुरगायति नृणा यद्वत्त जीर्णस्तथा,
तद्वच्चैत्यमनूतन तत इहोद्धारं प्रतिष्ठापदम् ।
भाद्यत्यतसि तद्विचिन्त्य निदत चैत्य नवीनोपम,
धाम्नि ग्रामनले च शास्त्रविधिना कतु भवद्दुद्यत ॥४०॥

नैवोपकार यजने जिनाना, यतो हि ते रागस्पादिशून्या ।
कनुमथाप्यप यथा प्रयुक्ते, ज्वरादिरोगप्रशमाय रत्ने ॥४१॥

वधोऽङ्गिना पापभरैकहेतु–न स विना नाचनमर्हतादे ।
एसाक्षजीयोद्धनन घृणा चेत्, स्थिनिर्गृह नैवरथा विमोह ॥४२॥

तन्यङ्गनाऽऽलयमुखार्थमनन्तकायान् ,
द्राग् हिंसता मनसि यस्य न कापि शङ्का ।
सैषां व्यथा यदनया ह्यपगङ्गिना स्या-
न्मिथ्यात्वमोहजनित कुमतीत्थमद्य ॥४३॥

नरेन्द्रदेवेन्द्रसमूहसत्कृता-मर्चा जिनार्चामधिकृत्य सिद्धाम् ।
विलोप्य संसारसमुद्रगाना, करोति भक्ति स कथ विवेकी ? ॥४४॥

जिने वर्तमाने चिदानन्दपूर्णे, कृता देशनाभूमिकार्य सुरैशैः ।
जनौ निष्क्रमे मोक्षसिद्धौ च या ता, सुभक्तिं विलुप्याधमार्गे-
धर्मी च ( भवे ) ॥४५॥

त्रिधा पञ्चधाऽर्चा पुनश्चाष्टभेदा, दशाविंशे सप्तमिश्राहृता या ।
श्रुतोक्तिप्रपञ्चे प्रयोज्ञा विलोप्य, गति सा च गन्ता दुरन्तापधर्माम्॥४६॥

त्रिसन्ध्य जिनाना विधायार्चन य , स्वमैतन्तमै संस्तव चापि कुर्यात ।
सुसौख्यानि देवस्य चिन्तातिगानि, स लब्ध्वा शिव
शीघ्रमाप्नोत्यजदयम् ॥४७॥

कृत सत्फल तेन जन्म स्ववीर्य, नरेणार्हतां भक्तिकृत्येन यशे ।
समारोपित कल्पवृक्षोऽङ्गनाना, सदा स्वर्गमोक्षैकफलप्रदायी ॥४८॥

यद्यपि पूजा फलविषये स्यात्, पौद्गलजाले धनकनकाशे ।
सत्तृणमात्र शिवफलसिद्धे-स्तत्यादिबुधजनस्तन्मात्र (द्राक्ष)॥४९॥

जैनोऽस्मार्हताना प्रवरगुणगण क्षेत्रमेतच्छ्रयेत,
मूल यत्सद्‌गुणा प्रवरगुणभृता धर्मकार्यस्य त्रयम् ।

फल्पातात फल यद् भवति नरगणे तन्निदान निनार्चा,
ध्यावति शास्त्रवाचाऽनुगतमतिरिति साधयेच्छ्रीनिनार्चाम्॥५०॥

इति चतुर्विंशोऽध्याय ।

---

। पञ्चविंशोऽध्याय । ( चैत्याधिकार )

स स्याज्जैनत्वधारी जिनपतिचरणप्लावित चैत्यमाढ्य,
ग्रामे वा पत्तने वा यदि भवति तदा वासमादातुमिच्छेत् ।
निष्काणा चेच्छत सद्धरति निनवश कारयेद्वासधाम्नि,
चैत्य नूत्न यत स्यादविरलगुणभृत्पुत्रपौत्रादिवश ॥१॥

जिनेश्वराणा महनेन भावो, यथा निदा श्राद्धपुपोद्वहानाम् ।
तथान्धिमश्रयणान्विताना, भावाय चैत्य सुकृतोद्वहाय ॥२॥

वशानुवशागतमग्ननाना, गृहस्थिताहन्निलयेक्षणेन ।
दिने दिने स्यान्निनधर्मवुद्धे–दूर्वव शुद्धक्षितिरोपिता या ॥३॥

निनाम्रनाना परिमाननीय, स्मार्यश्च जाप्यश्च निषेवणीय ।
को मङ्गलार्थं परिपूननीयो, द्वयोऽभवत्तत्स्मरसिद्धचैत्यात् ॥४॥

जिनोपदृष्ट विनिशम्य दृष्टा, येनाऽऽगमास्तीथविनोधनाय ।
गणेशिता सोऽहदुदारचैत्य–वर्ति पुरस्था परिकीर्त्तयेद्धि ॥५॥

जगत्यस्मिन् सन नगरवरनिगमग्रामसदृश,
जनाना भूपाना निवसनजनितगौण्यमहिम ।

क्षणाद् दृष्ट नष्ट जनपदजननाशेन नियत,
तथापीक्षन्ते ज्ञा पुरवरपरिगतैश्चलक्षतिभि ॥६॥

पुराणामुद्रसाना प्रकीर्णैर्युताना, मताना नृपाणा विनाश गतानाम्।
विबोधो बुधाना तदारम्भण स्यात सुचैत्यानि दृष्ट्वा तथैवामराजे ॥७॥

दृष्ट्वा मूर्ति वीतरागप्रभूणा, स्याद्वै बोधो द्रष्टुरात्तस्य शुद्ध।
दृष्टे चैत्ये चित्रकीर्णे तदीया, बोध्याऽवस्था भात्तनी चित्तचोक्षा ॥८॥

यथा साध्यसिद्धिर्विना साधन नो, तथा साधुता शुद्धधर्माधिमाङ्क्षाम्।
विना वीतरागास्पदतद्विधान, सुचित्राङ्किते चारुचैत्ये समानम् ॥९॥

भाषा या लिपिसश्रिता न नियता कालेन दर्शन च,
प्रासाऽनकश उच्छिद बुधमता चित्र तु पाषाणवत।
प्रक्षन्ते समकालगा बुधजना गच्छन्ति सत्य पथ,
तस्मान्निचरित यमेतदमलैश्चित्रैयुते चैत्यके (मन्दिरे) ॥१०॥

घनरिक्थयुतैर्नरबुद्धिधनै–जिनवाक्यचरित्रगुचिश्रवणै–
घननित्यसदागममानपरै, श्रमणादिसुसङ्घघननिघ्नमतै।
शुभसन्मतिधारकसधिजनै–र्जैनसाथराताऽऽदृतिगुद्धरवै–
रमणीयतर वरचित्रयुत चिरचैत्यमुदार (दीर्ण)
मतै क्रियते ॥११॥

तदा सम्मान्य तत्रादि न विधिना धूद्धरचिर,
मनोज्ञ चैत्य चेत् परित उदिताचारततिधृतम्।
न चास्थाने सन्तो विहितविविधाचाररतयो,
गति स्थान ह्यसा निन्धत उन्था यत उभा ॥१२॥

रत्नामूलीकीकसानी विशल्ये, तन्चैत्यं नो दीर्घकालीनशोभम् ।
शल्यं नो चेद्धरयुक्तं गीना, मान्यं नित्यं नतरै सर्वदा स्यात् ॥१३॥

सन्तोष्या गुविकारको मतिरनैर्दक्ते क्रियासुन्दर,
चैत्यं सुन्दरचित्रराजिकलितं धर्मप्रदं देहिनाम् ।
कार्याणां रमणीयतामलमिमे कुर्युः प्रसन्नान्तरा
यद्देहन कृतिमवेद्धत्यमूचेष्टानुगा नान्यथा ॥१४॥

बिम्बं यद्यपि शोभनं जिनपते कान्तप्रसत्त्याऽभव-
न्मोहान्धकरं भवेन्नहि परं चैत्ये सुचित्रान्विते ।
सच्छाद्धे प्रणिधायते न विबुधानन्दप्रदे सत्स्थले,
नो स्युः प्रतिमहरेद्विधिरशं सामान्यमालोकनात् ॥१५॥

चैत्यऽधिक्रियते निनस्तदनुगा चैत्ये क्रिया चित्रणे,
नो चेत्सारत भवन द्दत्य तुष्टं भवत प्रेक्षिणाम् ।
तत्कारणयोगिनो जिनपतेराश्रित्य तिस्रो दशा-
मोघत्यास्तदनुश्रिते प्रकरणे सत्रऽपि सत्कारत ॥१६॥

बिम्बं रत्नसुवर्णराजतकृतं नास्माद्विशिष्टा नृणा,
चित्ते शान्तिरनुत्तरा भवति तु सौन्दर्यसत्त्वान्वयात् ।
तत्कारव उत्तमेन धनिनाऽज्ञाकारसिद्धय ध्रुव,
सत्कार्योक्षिदशागते प्रकरणे स्याद्बिम्बशुद्धियथा ॥१७॥

यथा नृपाणा प्रणया प्रमोदा-द्राज्याभिषेके विविधक्रियाभि ।
कृते महाऽऽडम्बरराजितामी-राज्ञ् महत्त्वं वचनातिगं स्यात् ॥१८॥

तथाऽर्हता रम्यतराणि बिम्बा—न्यशेषसंस्कारक्रियया कृतानि।
विना प्रतिष्ठाविधिमार्हतानां, पूजाऽऽस्पदत्वं न हि जातु यान्ति ॥१९॥

चित्रे सुरम्ये विहितेऽथ चैत्ये, दशाहमध्ये क्रियते प्रतिष्ठा।
प्रभेन चेत्तत्कृतवान् मनोज्ञं, रक्षोऽधमो शीघ्रमधिष्ठीयेत ॥२०॥

अर्हच्चैत्यप्रतिष्ठासमयमनुसृतं चक्रशृङ्गारकार्यं,
नाढ्यं धर्माङ्कयज्ञं विविधवधयुतेऽसारधातौ विवेके।
सन्मानं सर्वलोगं विविधगुणधरे श्रावकार्हत्समक्षे,
कार्या यत्तु विधायाऽव्ययपदगमनं धर्मप्राप्त्यै विशेषात् ॥२१॥

उक्तं यच्छास्त्रवारैः परिणतिवशतो ह्याश्रवा निवराङ्ग,
तत्तत्य यज्जिनेन्द्रो भवसुरमहसा पापबन्धो विधाने।
तद्वत्कार्यं जिनानां प्रतिष्ठितिमहने विद्यतेऽङ्गक्रियायां,
स च सर्वाऽत्र तस्माद्विधिवदनुसरेत् सर्वशोभाग्रहत्वम्॥२२॥

विधौ प्रतिष्ठाकृतिसंश्रितेऽत्र कृते जिनानां महिमाऽप्रधस्तात्।
विशेषतः श्राद्धवरैर्विधेयो, यथा मुदार्थे, जिनबिम्बचैत्ये ॥२३॥

चैत्यं विहितं बिम्बैर्युक्तं, सद्धर्मप्रहिता पूजा मान्यम्।
नान्य जिनके धार्ये सङ्घे, व्याख्या मुनिभिः कार्या सूक्ता ॥२४॥

भव्या अनागत्याऽनर्हा, दृष्ट्वा मूर्ति धर्माऽऽरामाम्।
बोधं यान्तु मासानन्दा, शीघ्रं यान्तु मुक्तिं रम्याम् ॥२५॥

नैवात्र शङ्कयममलप्रतिबोधसारे—
र्नैवद्यमामविहितं करणीयमार्यं।

नन्शादिमाम्यमुन्ति रचनाम्भिरूपे,
शास्त्रेषु नैव जिनबिम्बगृहादिकार्ये ॥२६॥

ग्ने मुनिभ्योऽशनपानस्वाद्य–स्वाद्यानि यो हि प्रथमादि कृत्वा।
तथापि पश्चात्प्रकारे प्रभूता, मन्निनरा तर्हि विमोहन पथम् ॥२७॥

यदि मुनीना मनमाश्रयन्त, पुष्पादिपूर्वा विहिता गृहस्थै।
पदऽप्रयादस्य भवन्ति, तना–धिकारियोग्यो हि विधिस्तथा न ॥२८॥

नियतो विधिवा मत कर्तुं योग्यो, मुनीशो निषिद्धो गणेशस्त्रिकार्य।
पुनर्मार्गगत्या निषिद्धोऽस्ति पाठो, निषिद्धा स्थिति कल्पिकी
पात्रपात्रे ॥२९॥

दृष्ट्वा जिन चैत्यविराजित जना, व्रजन्ति गग जिनशासनेऽनघे।
समूह एव क्षयति प्रणाम, द्विष्ट सपक्षं खलु नीतिमाहुः ॥३०॥

जिनाय शान्तिप्रथमाननाय, नत्वा जिन तद्रहिताऽऽगमाय।
भवेप्रवृत्तो नर आत्मतायी, प्रकृष्टतत्त्वो पदमाश्रितो यत् ॥३१॥

एका नतिर्या जिनरापभानव कृता नरै साऽनिधापतामसम्।
निहन्ति, यत्नैव हृतौ दिनेश-प्रभाऽलसा स्यात्तिमिरावलीनाम् ॥३२॥

पूजामष्टविधा तथाविधमति प्रात स्वकीये गृहे,
चैत्य याति मनोहर पुरगत श्रीसङ्घमत्ता श्रिते।
प्रत्याख्यानपरो विधाय गुरूणामाचारचर्यां वरां,
मध्याह्ने प्रतिलभ्य साधुनिचय जैनोऽशन खादति ॥३३॥

सन्ध्याया गुरुसाक्षिकी विधियुतामारभ्यरीं सत्क्रिया,
ग्लानत्वादिदशाश्रिते वरगुरौ विश्रामणामाचरन् ।
स्वाध्याय परम विधाय जिनराट् चैत्येऽर्चना सम्मदात्,
कृत्वाऽऽयाति निकेतन शुचितनु ( स्मृतिधरो ) जैना
नयेद्यामिनीम् ॥३४॥

जैनश्चेत् प्रबलाघसन्ततिभरात् क्षीणोऽथ रिक्थेऽप्यथा,
हेतौ वा समुपस्थितेऽपरतमे देशान्तर गच्छति ।
जानीते स्वकमन्तरायमुदित लाभादिघातोन्नत,
क्षीण नैव भवत्तकश्चदि पर, लाभो महान् धर्मग ॥३५॥

जैनो देशान्तराणि व्रजति यदि तदा चैत्ययुक्त निवास,
गत्वाऽस्य सुचैत्य मुनिगणसहित याति नत्वाऽन्यथा न ।
पश्चात् सत्सक्तिरेभिभजति यदि पर स्मारयेद्वन्दन तत्,
स्यादेव जैनमार्गा मिलितविमलहृद्धारक शासनस्य ॥३६॥

श्राद्धो भवेज्जिनवरार्चनबुद्धिपूरो, नैतय चैत्यजिनबिम्बयुग विहाय ।
तच्छ्राद्धधर्ममतय प्रतिपादक हि, कुर्युर्मदो जिनमतेऽतितरा
हि रक्ता ॥३७॥

एव विबुध्य विबुधैर्जिनरिक्थमेतत्, सद्व्याय दिष्टममलाय शिवोद्यताय
तद्धनावनविनाशफल प्रदद्य, श्रेय गृहेऽर्चनविधौ सकले च योगि॥३८

यो वर्धयेज्जिनधन प्रवरोपयोग, श्रीजैनशासनगतोन्नतिसूत्रधारम् ।
सज्ज्ञानदर्शनचरित्रविकाशधुर्य, प्राप्नोत्यसौ जिनपद प्रथित
प्रथि याम् ॥३९॥

द्रव्य जिनस्य न भवेदपरिग्रहस्य, भक्त्यै गृहीतममलेन हृदा जिनस्य ।
वृद्धौ जिनेशपदलोपनिमित्तकस्य भावी, मनुष्यजननस्य भुवि घातयिता
न चिरम् ॥४०॥

चैत्य बिम्ब जिनस्य प्रभवति सकले सम्भवेन्न हिताय,
धाता वृद्धा युवान सुकृतसनिधरा भ्रीयधोयामिरत्ता ।
जाता यत्नेन दृष्टौ प्रचुरनिचयिनोऽप्यावधामाभिलापा ,
लाम योरेत्यभन्ते निलपतिपठित मुखित वाढि दृष्ट्वा ॥४१॥

पत्सर्व रक्षणाया जिन-जिनगृहयो सुस्थित योद्धृताया,
सा स्यात्सद् द्रव्यमिदेरिति सुकृतभरा वर्धने बद्धकक्षा ।
यायेनाऽऽस्मभूया गतविषयधया धममाराधयान्छा ,
सर्वैषा मुक्तिराज्ञा जिनपदमतुल नाकुत यद्धरन्ति ॥४२॥

य मत्वा नहि तादरा धनयत्न युक्तिप्रयोग कर्तुं,
कुर्वन्त प्रवर्न्त च नो कथमपि वृद्धै पर कारणम् ।
देवस्वस्य तत्र नराम्नदयत स्यु सोन्ममा सुधर्नै,
मत्पामुपकारकस्य विधिना मुक्ति लभेरन् रुघु ॥४३॥

ये तु प्रोत्कटमोहराजजनितप्राबल्यभाजो नरा,
मिथ्यात्वाऽऽकुलमेनसो जिनधन साहर प्रभावाविनम् ।
नो वृद्धि न च रक्षण प्रतिपद नतु प्रवृत्ताऽऽदरा ,
भक्षन्ति प्रमदा परैश्च निहते नो वारितु सादरा ॥४४॥

ते धमस्य विघधन स्थितियुत निर्णाशयन्तीतर,
त मोह समुपाय दुधरतर प्राप्स्यन्ति दु खान्विता ।

ससारेऽप्रमवृत्तयो नरकगा दुःखेन बोधिं परे,
जन्मन्यासुरभावनोन्नतहृदो नैव शिवश्रीभय ॥४५॥ युग्मम्

श्रुत्वा फल जिनपतिद्रविणे प्रवृद्धे, रक्षागत न मनुजा शुभनोधशून्या ।
पूजादिकार्यविधिषु द्रविण व्ययन्ते, ये तेऽपि नैव निधिमार्गपरा समेषु ।
चैत्येषु बिम्बसहितेषु यथार्हमाधा (मर्प्यम्) ॥४६॥

देशप्रदेशेषु परापरेषु, बिम्बानि चैत्यानि पुरातनानि ।
दर्शं दर्शं भव्यजीवा अनेकेऽनापुर्नोधिं तद्भृतश्च स्थिरत्वम् ॥४७॥

प्रमादतोऽकारि सुसयतेनाऽकृत्य कदाचिन्न च तत्परेभ्य ।
गीतार्थसविग्नमुनिभ्य आशु, निवेद्य शोध्य परतोऽपि जातु ॥४८॥

तत प्रत्ने चैत्ये भवति जिनपतेर्या प्रतिकृति-
स्तदग्रे शास्त्रेण स्वयमपि समालोचयति स ।
गीतार्थं शोधीना सकलगुणिवरान् वेत्ति सुविधीन्,
अकृत्य निर्मोघ शुचितरमना गुप्यति तत ॥४९॥

पुराणानामेव जिनपतिगृहाणा प्रतिमया,
निजाम्याहराज्ञा द्राग महिमप्रततिं वीक्ष्य सुधिय ।
सदा कुर्युस्तूर्था निरघमतमुदा पालनयुता,
लभन्ते वै भव्याशुभमततिं पापपङ्क्तिका ।
विहत्याऽच्छन्छायप्रथितमहिमान शुचिपदम् । इति वा ॥५०॥

भवेद् जैनोऽसौ य प्रतिनियतसामर्थ्यसहितो,
विधयाच्चैत्याना विविधघटना बिम्बमनुपाम् ।

न्मय ससारान्निस्तरणनिपुणस्तारयति वै,
गता धमाराम न भवति विदुषा स्वान्यविभिन्न ॥५१॥

इति पञ्चविंशोऽध्याय ॥

---

। षड्विंशोऽध्याय । ( ज्ञानाधिकार )

जैनोऽसौ नियत तनोति मतिमान् यो ज्ञानकाय सन्,
जैन यद् भुवि शासन विजयते हत्वान्यतीर्थप्रभाम् ।
सोऽन्यो महिमा प्रचण्डतरको ज्ञानप्रभावोत्थित ,
प्राप्तेष्वपि धनरेपु यद्बहुतरेष्वीशाधर श्लाघ्यते ॥१॥

ज्ञानन जात भुवि जैनतीर्थं, ज्ञानेन तत्स्थापितमहता पुन ।
ज्ञानप्रवृत्तिं भुवि जायमाना–मपेक्ष्य तीर्थ जगतीह वर्तते ॥२॥

ज्ञानस्यैव मह परात्परतरो, जागर्यनून पर–
स्तीर्थेशा परिषत्सु चन्द्रतधराश्छद्मस्थभावान्विता ।
गच्छेशा श्रुतकेवला निखिलविद्वृन्दान् पुर स्थानगा–
स्तानादौ च नमस्करोति निखिल शेष समासज्जन ॥३॥

मुनीश्वराणा गणनायकत्वे, स्थाप्ये मता या निखिला गुणालि ।
सर्वोऽपि सा युक्ततमाऽप्यपार्थ , पर श्रुताऽऽधारगुणे त्वसौ न ॥४॥

नियार्निर्हताऽपि मुनौ वनाना, मिथ्यात्वभावो न तथाप्रवृत्तिश्चेन् ।
गीतार्थताया सुमुनौ ( च ) तद्वद्, भवेत्य चेत्तु गम्यो न ...

गीताअनिशामभिहत्य ये स्यु , क्रियापरा सयमिन प्रभूता ।
तेष्वश एकोऽपि न सयमस्य, ज्ञात्वेदमार्यं श्रुतसाधनो भवेत् ॥६॥

भेदा पञ्च र्यातिमन्तो बुधेषु, ज्ञाने गीता शास्त्रकारैर्हिताय ।
मत्याद्यास्तु व्याहृतिस्तस्य शास्त्रे, कालाद्येषु गीयते शास्त्रनिष्ठा ॥७॥

जैने पर्वं राध्यते ज्ञानसत्क, पञ्चम्या वै शुक्लपक्षोपगायाम् ।
तत्र स्थाप्य शास्त्रवृन्द पुरस्तात्, तस्याग्रे श्रीसङ्घ आप्नोति धाम ॥८॥

वर्षाऋतौ स्याद्वरपुस्तकाना-माद्रत्व तद्धेतु विकुत्थनादि ।
तत्सारणादावधिक प्रभावो, मत्वा श्रुताराधनमिष्यतेऽत्र ॥९॥

तदाश्रया कार्तिकपञ्चमीय, मता जिनेशानुगतै समस्तै ।
पर्यायभेदेन मता ततोऽसौ, सौभाग्ययुक्ता श्रुतपञ्चमी वा ॥१०॥

चिरन्तनाना यतिना न काचित, पुस्तावपेक्षा स्मृतिपाटवानाम् ।
तथापि तत्रामलशास्त्रपद्धति – गीतार्थताहीनजनोपयोगिनी ॥११॥

देवेन्द्रयुक्ताद्गणिन पुरस्तात्–ऽऽसन्मुनीना वचनानि मानम् ।
पर परस्तात् स्मृतितानमाना, पुस्तानि सर्वेभ्य उदारमानम् ॥१२॥

ततोऽधुना नैव वचासि मान, न निग्रतीष्ट शुचिपुस्तकानि ।
महामुनीना गुणगह्वराणा, नासम्भवी यत्स्मृतिलोप उम ॥१३॥

प्रशस्तुमेतद् यदि नोचित न, प्रवच्मिनि शेपमित हि शासनम् ।
लेखान् सुपुस्तप्रथितान् विहाय–परण नैव धियते कथञ्चित् ॥१४॥

यत्र स्मृताद्यधरणादिमेधा–प्राचुर्ययुक्ता मुनय प्रशस्ता ।
तेषा तदा पुस्तकसङ्ग्रहस्य, परिग्रह कारणमेव नान्यत् ॥१५॥

मेया यदा हीनतरा मुनीना, कोशाय नियुक्तिसुरग्रहोऽभूत् ।
हानियत तत्र बभूव भूरि–स्तन समग्रस्य बभूव सद्ग्रह ॥१६॥

यथा ह्यचेलत्वगमे हि वस्त्र, परिग्रह स्या मुनितापदाङ्कम् ।
परं तु यसयमसाध्यता स्यात्, तेषा ग्रहान्चीवरभाजनादे ॥१७॥

अतोऽधुना पुस्तकसङ्ग्रहो य, स एव बोध जनयत्यनूनम् ।
धरन्ति चैतानि न पुस्तकानि, ह्यास्यादिसत्ता मुनयो
भ(वेयु) यन्ति ॥१८॥

ततोऽधुना ज्ञानगुणेप्सुना सता, कार्यं द्वय ज्ञानपदाहणायाम् ।
आराधना ज्ञानपदस्य जाप–ध्यानादिभि पञ्चपदानि लात्वा ॥१९॥

अन्त्य मुनीभ्योऽमलपुस्तकाना, विलेखनामचनमारचय्य ।
समर्पण वाचनमन्ययुक्ति–द्वयोपकाराय सदा प्रयोज्या ॥॥२०॥

न स्थान शास्त्रविहीनमार्गो, शास्त्राणि सर्वाणि समाश्रितानि ।
सुपुस्तकार्लि गणिना धरेण, ज्ञातु स्वरूपाणि निदर्शनानि ॥२१॥

धार्याणि निश्शेषमताश्रितानि, तत्कालकालान्तरपुस्तकानि ।
गणी भवेन्नेतरथा स्वरान्य–मतोद्ग्रहे शक्तिधर प्रकाशम् ॥२२॥ युग्मम्

यावत्तीर्थ जिनस्य प्रचलति भुवने तावदपोऽपि सङ्घो,
यावच्चाऽसौ जनेषु प्रकटतिमिरहा तावदर्हद्वचताम् ।
तत्त्वाना सप्तकस्यानवमपथधृतिप्राप्तिहेतुत्वमाप्य,
तानि स्यु पुस्तकाना निचयमनुगता यचनीयानि भव्यै ॥२३॥

अन्त्याऽऽवर्तप्रमिते (प्राणे) भवगतिगमने शेष आप्नोति मार्गं,
भव्यो जीव प्रभावात् सुकृतनियतितो जातकालात् प्रधानात्।
तत्रानाभोगवान् सन् प्रचरति जिनपोद्भाविते यद्वदन्धो,
सद्भाग्यो भव्यजीवश्चरति गतपथो सावदेशितमार्गं ॥२४॥

तद्वज्जीवोऽपि मार्गं यदि व्रजति पथि ज्ञानहीनस्तथापि,
देवार्चादिव सोऽनुगतविमलभा लेखयेत् पुस्तकानि।
अभ्यर्च्यांशेषशिष्टव्रतिगणनिचयतः सद्गुरुभ्यः समर्प्य,
सत्याप्य श्रोतृकार्यं गुरुवचनसुधापानमासाद्य उच्चैः ॥२५॥

दत्तो गुरुधर्मवरस्य बोध्या-न्येषा समासाद्य गता प्रमाणाम्।
व्याख्यानवीनानि यथा श्रुतानि, विशेषतोऽमूनि तथाङ्कितानि ॥२६॥

तथापि बाहुल्यमनेहसीय-प्रभावतो बुद्धिधनस्य विस्मृते।
कुवादिना कल्पितपाठवादिना, विलोपकाना च न विद्यतेऽन्त ॥२७॥

एतान्दोषानहसि मागरस्ता, पथ श्रयेयु शिवशुद्धमार्गे।
जतो निसर्गादहरानऽमिन्न-रूपान् सुपुस्तान् भविनोऽर्चयन्तु
निर्विशेषकम् ॥२८॥

निशम्य पैशाचिक्यूत्तमात-स्नुषाकथा च प्रतिन स्वशुद्धये।
क्रियातिरिक्त समये विदध्यु, स्वाध्याय एषोऽपि सुपुस्तकाश्रित ॥२९॥

एत च ये स्यु सतत समुद्यता, स्वाध्याययुक्ते धरधर्मचित्ते।
सुपुस्तकाना धरणे प्रवीणा, ध्यानेऽन्यथा बाध उदियात् प्रचण्ड ॥३०॥

तीर्थोपारतदा सुपुस्तनिचयस्तेनैव मद्गप्रभो-
र्दैवानीत उपाय आगमविधौ पुस्तस्य पर्यावधि।

मिद्धप्रतिबोधनाय गुरुणा स्तम्य बोद्धे मते,
न्यस्ता सुन्दरपुस्तिकाऽस्य विमले जैनेन्द्रधर्मे मति ।
पूज्य-श्रीहरिभद्रसूरिरचिताऽस्याऽऽलोकनेऽजायत ॥३१॥

त्रिधोदिता जिनागमा अनन्तर-परम्परा-
ऽऽत्मसत्स्वरूपभेदत पुनर्द्विधाऽथसूरत ।
द्विधाऽपि वर्ततेऽधुना परम्पराभिधानको,
जिनेशशासन मुने परम्परानिदानित ।
सुपुस्तकाश्रितस्तत स एव पूज्यतामिह ॥३२॥

मत्वैव शासनस्यानुपमहितकर पुस्तक तत्पुरोगै-
र्नैके कोशा कृता सत्पुरुषवचनत शासनोत्तेजनाय ।
नैके श्राद्धोत्तमास्तु विविधविधियुतान्याचरन्ति प्रकाम,
तत्तद्वैचित्र्यभाज्यु तप उदयकृते ज्ञापने वह्विलेरवान् ॥३३॥

यथा जिनेशभक्तित बहुप्रकारिकार्चना,
जिनेश्वरेषु पूजने तदीयबिम्बमहत ।
तथा जिनेशशास्त्रवृन्दभक्तिभारिता जना,
सुशास्त्रशोधिनस्तदाश्रयांश्च पूजयन्ति ये ॥३४॥

अत श्रुते समीरित त्रिधाऽऽप्तनैरविबन्धन,
साधनाच्च बोधि-बोध-तद्गताऽङ्गसहते ।
क्षय तु चेत्समीहते प्रकाममात्मकाम्यया,
त्रिपूजन तदाप्नुते क्रियात् सुपुस्तकान्वयात् ॥३५॥

चैत्याना नूतनाना वितनुत वदिता सत्क्रिया यद्वनाम्ना,
उद्धार प्राक्तनाना विविधपुरयुता तन्यते भक्तिनम्रा ।

अ-याऽऽयतप्रमिते (माणे) भवगतिगमने शेष आप्नोति मार्गं,
भ-यो जीव प्रभावात् सुरतनियतितो लातकालान् प्रधानात्।
तत्रानाभोगयान् सन् प्रचरति जिनपोद्भावितं यद्वदन्धो,
सद्भाग्यो भ-यजीवश्चरति गतपथो सानदेशितमार्गं ॥२४॥

तद्वज्जीवोऽपि मार्गे यदि व्रजति पथि ज्ञानहीनस्तदापि,
देवाद्यर्चादिवत्सोऽगुलनिमल्भा लेखयेत् पुस्तकानि।
अभ्यर्च्यौशेपशिष्टद्रविणनिचयत सद्गुरुभ्य समर्प्य,
सत्साप्य श्रोतृकार्यं गुरुवचनसुधापानमादत्त इचे ॥२५॥

दयो गुरुर्भवरक्ष बोध्या-न्वेषा समासान् व्रता प्रमाणाम्।
व्याख्यानाधीनानि यथा श्रुतानि, विशेषतोऽमूनि तथाङ्कितानि ॥२६॥

तथापि याहुल्यमनेहसीय-प्रभावतो बुद्धिधरस्य विस्मृते।
सूत्रादिना कल्पितपाठयादिना, निर्लोपपाता च न विद्यतेऽन्त ॥२७॥

एतादृशेऽनहसि मार्गरता, कथ श्रयेयु शिवशुद्धमार्गं।
अतो निसर्गादहरानऽभिन्न-रूपान् सुपुस्तान् भविनोऽर्थयन्तु
त्रिभिर्निर्लेपकम् ॥२८॥

निशम्य पैशाचिकवृत्तमात-सुपाकथा च व्रतिन सशुद्धचै।
क्रियातिरिक्ते समये विदध्यु, स्वाध्याय व्योऽपि सुपुस्तकाश्रित ॥२९॥

एव च ये स्यु सतत समुद्यता, स्वाध्याययुक्ते परधर्मचित्ते।
सुपुस्तकाना धरणे प्रवीणा, ध्यानेऽन्यथा बाध उदियात प्रचण्ड ॥३०॥

तीर्थाधारतया सुपुस्तनिचयतेनैव महत्प्रभो-
र्द्ध्यानीत उपाय आगमविधौ पुस्तस्य वर्णावधि।

ससत्रागतिरस्य मुग्धहसनी मिद्धिर्न काचिपरा-
प्यर्थोऽस्य सकल्पप्रयास इह चाऽज्ञानिमियाया सम ॥४१॥

प्रागुक्त श्रुतधारके श्रुतिपद च सचत सयन,
गत्वा स्थान उदान्तौ नयविधौ यान्यासनेपूरत ।
यध्नान्यर (न) पापमण्वपि यतोऽसौ रक्षक प्राणिना,
चेत्प्राणान्तमिता परेऽमव इह पापाय नो तादृशे ॥४२॥

एव नो विधित परोऽपरमुनि साम्य विहायाऽऽत्मना,
कुर्यात्ता परमप्रमादसहिता हिंस्यान्न जन्माश्रयान् ।
जात्वपोऽप्यनितानसद्धितिकरो रक्षाविधौ न यत,
एप यत्नपर परेऽत्र न मृता स्यायु समर्था यत ॥४३॥

श्रुत्वैव यच आहतिप्रचुरतामागाद्द शिष्य परो,
नो ज्ञान शिवमार्गक्षिणा मतिरत कार्या फलेनोज्झिना ।
आहाराप्तिपदा सदा हितविधानाल्पफलेनोज्झितो,
यो जीववरसार्थबोधरहितो रक्षोऽत्र किं भवन् ? ॥४४॥

न जीववरवस्तुवृन्दविपय ज्ञान पर धारयन्,
पुण्यापुण्यनिधानबोधजनित मुक्त्यन्तसौख्य श्रयेत ।
तत्प्रथम शिवधाममार्गनिपुणज्ञान परश्रेयसे,
मान्य यज्जिनशासन द्वययुत स्याल्लव्ययाप्तिप्रदम् ॥४५॥

श्रीजनशासनमतेऽत्र नराश्रमुर्धा, ज्ञान तु केवलमुपासतमुज्झितेयम् ।
हीना निद्रा पर उशन्ति परा प्रवृत्ति, द्वौ चापरौ गुणविशेषतया द्विक तु,
नैतपु कश्चन नरो जिनमार्गगम ॥४६॥

विम्बाना नयजीणप्रकरणनिपुणा उद्यम सन्दधते,
सन्देध जैनेदानम्ये बहुविधविनय सभयन्ते सुधर्मा (बोधा) ॥३६॥

सर्वोऽप्येप प्रभावो मुनिनरसजुप सद्गुणसाधस्य तीव्रो,
भेदैर्युक्तश्चतुर्भि श्रमणमुरगतै पुस्तकाधारजीरै ।
व्याख्यान सत्क्रियायुक् प्रवितरणचणं शासनस्तम्भरूप-
युक्तस्य पुस्तभक्त्या त्रिकरणविधया सश्रितस्यैव नूनम् ॥३७॥

शास्त्राणा निर्दिष्टा वरा सुरचना पुस्तेपु विद्योत्तमै,
सा चेद्धर्मधियर्ति तर्हि जिनपस्याऽभूत्पर बाधितम् ।
सत्र यद्धरति प्रकृष्टमतिश सवत्रग सगरा,
सूत्राणा मितसाधने परमसुश्मिन धर्मवार्ता वृथा ॥३८॥

ज्ञान सर्वमतानुगैरभिमत धर्मादितो सारभृज्,
जैना न्यायमभिमन्यते परमिद तत्त्वाशया नो परम् ।
जैना यन्निश्रेयसाधन परतर मन्यन्त उद्धारक,
ज्ञान सत्क्रियया युत न विफल चैक ह्यपीष्व्यप्रदम् ॥३९॥

रोगी नैव निदानरूपभिषना रोगस्य बोधाद्भवे-
दल्पेनापि गदन सुस्तनुकक्षेमागदाना क्रिया ।
यार्धम्नारकता श्रितोऽपि पटुधीश्चत्तारण नोद्यत,
पार नो समियर्त्यसौ नदनगीवव क्रियाऽऽवश्यिकी ॥४०॥

युक्तोऽपि क्रियया विचित्रविधया रत्नाकरेप्यागत-
श्चेनासारबुध्यतेऽत्र पतित सार गतार्धं च या ।

मार्गत्रय सम्मिलिता विमुक्ते , सम्यक्त्वबोधव्रतरूपरत्ना ।
सम्यक्त्वलाभात् प्रभृति क्रमोऽत्र, तत्त्वार्थबोधन विना न सिद्धिनि ॥५५॥

ज्ञान कुलाधारक एव यस्य, तस्यास्ति साध्यत्वसुखास्पदने ।
यस्यादिधर्मो स नरो लभेत, ज्ञानादि सम्यक्त्वगुणस्य लाभम् ॥५६॥

निश्रेण यद्यपि गर्भशाला–द्विशिष्टसम्यक्त्वपदग ध्रुव स्यु ।
ज्ञानत्रय तत्र तथापि शस्ता, जैने कृता प्राप्तुल इन्दुसाम्यात् ॥५७॥

परित्यजन्ति तीर्थपा समस्तपापभाजन,
गृह धनाङ्गनासुतादिसंयुत स्वयोरत ।
तदैव तुर्यमाप्नुते समं मन पर्यय,
न जायतेऽत्र आश्रितैर्व्यगारमा मभावत ॥५८॥

कृते तु दीपेन गृहे प्रकाशन, धूम्रप्रमुखस्य विशोधन परम् ।
न चेद्धनेन् तत् प्रथम तस्य पुन , सुवर्णरूप्याग्निरपोहित भवेत् ॥५९॥

तथैव बोधन विना कृत तपो, भवेद्वृथामेन युता विनिश्चयाम ।
इतु मति, आश्रितो न मुक्ते–र्यद्यद्यथार्थविद्दा न तत्र ॥६०॥

निरोध कृत्स्नस्य नूनादृशा वा, पुराणपापाशोषम आत्तरूप ।
यथार्थपापप्रचयक्षय स्या–द्विशुध्य सत्तत्करणि निरुध्यान ॥६१॥

उग्रो यदि कृतो मनस्विना, संयमे तपसि च श्रुतागमे ।
निवृत्ति करतले पुन स तु, ज्ञानिनोऽपरथाऽधनूत्ययन ॥६२॥

ज्ञानयु पद्यसु पुन श्रुतमेकमेव,
व्याख्याति रूपममल स्वपराश्रयाद्भुम् ।

ज्ञानक्रियोभयगता पुरुषेषु भङ्गा, यत्ते नरेषु भजनापदतो विभात ।
ज्ञान लभेत पुरुष प्रचुराघभेत्ता, यन्धोऽपि जातु नहि मधिपरो हि तस्य ॥४७॥

नैति क्रियाकृतिमसौ मतिरस्य तद्वा,
तेनायमेति पदमाराधनया प्रभूतम् ।
जैनी क्रिया प्रविदधान उपैति मार्गं,
योग्यत्वमस्य न तु मक्ती नियमात्समेति ॥४८॥

अन्येतरा केचिदिमा समेता, न तेऽत्र भव्या अपि मार्गहीना ।
आराधना तस्य भवेद्धि न्यूना, मार्गेण हीना इति दुष्टाङ्गा ॥४९॥

ज्ञान क्रिया चापि समेत्य युग्म, सम्यक्त्वचारित्रयुज पुरुषा ।
मार्गं जिनेशस्य यथास्थित ते, मोक्ष लघुशान्ति विशुद्धभावा ॥५०॥

जैने कुले ये जनिमादधुस्ते, यावन्न तत्त्वेतरभावविज्ञा
वृद्धानुवृत्त्या क्रियया विदा च, धृतात्मधाप्यत्र न ते प्रमाणम् ॥५१॥

क्रियायुतो ज्ञानपदार्थशून्यो, निवेदितोऽरण्यगतोऽक्षिहीन ।
नियुक्तिकारे प्रसभ द्वयोस्तु, समत्वमाश्रित्य युगादराय ॥५२॥

द्वयो पर साम्यमपेक्ष्य तेहि, चारित्रहीन कथित नरे सम ।
ज्ञान तु दीपैस्तुलित प्रधान, ज्ञानक्रियाभ्या सहितोऽद्भुत ॥५३॥

समसत्त्वमक्षयतो विमुक्ति , श्रेणिप्रभावात्स भवन्ना सा तु ।
केवल्यहीने शिवसाधन तद्, ज्ञान सदा श्रेयमिद तु भ वे ॥५४॥

। सप्तविंशोऽध्याय । ( श्रमणाधिकार )

नैनोऽसौ जिनशासनाधिगमतो जन्म स्वरीय सदा,
धन्य मन्यत आत्मसुर्खिपरम नास्तीतरच्छासनम् ।
पूज्यत्व जिनशासनस्य सकलस्तोत्राहरान् सर्वदा,
जीवाना हितदर्शनादघरितानुवृत्तेसुमुमुक्षुग्रहात् ॥१॥

दत्तो रागविनाशकृत्यपि न सत्साधोर्निशे छासन,
ज्ञानान्वियसयुत विरमण पापेभ्य आख्याज्जिनै ।
विद्वत्सु प्रतीत पद प्रथमत स्याद्दशकस्मश्रुतो,
नो चेद्देष्टरि नतरे च निर्मिमा नैराहणा सन्नृणाम् ॥२॥

आत्मा केवललब्धिर्मोत्वपर स्याद्रागरोपादिजिद्,
यस्माज्ज्ञानदर्शन नश्यत इहात्मा कषायान्विते ।
यद्यौ नैव निगच्छतो भवकरेऽनिष्टे कषायान्वय,
तत्कैवल्यपरो जगत्पतिरसौ श्रीवीतरागो जिन ॥३॥

महत्त्व जिनस्यास्ति यत्सोऽखिलार्थान्, समत्वेन वत्त्येक सामान्यरूपान् ।
पृथक्पृथगाँस्तु वक्ति प्रकृष्टान्, विशेषान्विताान् युग्मरूप पदार्थ ॥४॥

यथा यथा स्याद् ऋजुतान्विताङ्गुलि, नष्टा स्थिरोत्पादयुता तु सैव ।
एव प्रभु कालभिर्गोत्थिताना, वेत्तीह पर्यायनशाश्रितानाम् ॥५॥

न्याभिधानन समूहमैन, स्याद्वाद एवास्ति पदार्थरूप ।
बुध्यात्परे नित्यमता परेश, स्वमिन्ननित्ये न हि शुभदा स्यु ॥६॥

भिन्ना जीवा भवेयुर्यदि न हि करणैर्ज्ञानसौख्यादिभाजो,
शानस्य प्रेय न मासभत इह नहि प्रेक्ष्यते सि न इह ।

मूकानि शेपमतिसुग्धविबोधनानि,
स्वेषा न रूपममलं वन्तु क्षमाणि ॥६३॥

ज्ञानं यद्यपि केवलं वरतरं सर्वार्थबोधान्वितं,
नित्यानन्दसमन्वितं नियततयाभ्राजिष्णु सर्वोत्तमम् ।
मेरौ काञ्चनसन्तते सममिदं लोकोपयोगोज्झितं,
तत्स्वर्णं खनिसम्भवाभमनिशं श्रोता श्रुतं सत्तुयात् ॥६४॥

कालोऽयं कलिसङ्क्षितो न च नृणां ज्ञानानि शेषाणि वै,
नैवाकाशविचारिणां गतिरिहास्त्र च लब्धिस्पृशाम् ।
मेधा नैव तथाविधा गणभृतां सद्योगयुक्तात्मना,
तुल्या, शासनमाहतं निजयते सामर्थ्यमाप्य श्रुतात् ॥६५॥

जैनेन्द्रशासनमिदं सकलान्यतीर्थ्य-
न्यत्कारकारणसहं जयतीह लोके ।
सर्वोऽप्ययं लिखितशास्त्रभवोऽनुभावो,
ज्ञात्वेदमत्र लिखनेऽलसिता सतां का ? ॥६६॥

जैनाऽस्मौ वरभक्तिभाग वितनुते नित्यं महं ज्ञानग,
तत्रापि श्रुतलेखनापननिधौ जैनेन्द्रबिम्बेष्विव (स्वाधिके) ।
दृष्ट्वा यद्वदवाप्य जन्म झटिति श्रौतीं महत्यर्चना,
तद्वच्च प्रतिवासरं वितनुते श्रौतीं सपर्यां मुदा ॥६७॥

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥

साध्य निश्चित त्पमो नु विदुषा मोगे न्यायात्मर-
श्चारित्र इव उमसो न च फलेप्सार विना कस्यचित् ।
इतो भावनशाधनमयथग धर्मागमोद्योतो,
भावनयाधनसाधन भवति सन्चमागमेद्युपाधने,
शास्त्राणि ततोऽयसद्गमहतो रूपाणि मस्योद्धुरे ॥१६॥

मन्वेष निनराड दिदृश भवितु सम्यक्त्वशोधमता-
त्पन्य तद्विधशोधसूत्रपदिता दृष्ट्वा न चेव शमा ।
मनु ममारम्भमुन्वाहनिरतोऽपादेरमो नामदा,
पुण्योदयार ममम्भारिदमु मोह जिन दुगत ॥१७॥

मन्वेव भरक्षाशिवे पराग गन्तु मुनीशो जिन,
गनारं शरणस्य कमरत्कार श्रामारमाशिभिदा ।
मनानी सुमनान् रणाङ्गणभुवि प्रामभिय रणाड,
कर्तुं चन्सुमना रणोत्समपरा अशोधमम्नद्धिा ॥१८॥

भवति प्रवरोपमा मुनिवरान्तरकराऽऽश्रयात् पङ्कजा,
गमाराम्बुधिरधन पद्वारार् दुर्गेकदावानलात् ।
यात सवरूपमाप्य मथने शुद्धे नपस्युत्ता ,
धाउन पृद्धनपस्विनश्च सतत ये स्यु सदा सेविन ॥१९॥

शिक्षातु प्रवणो भवन्न मतिमाताऽऽस्मन फाम्वपि,
किं कर्मक्षपणाय सादरतया प्रारम्भतम्नात् शिपेत ।
मचेष्टोऽपि ततो नरो धृतिपर प्रोत्युक्तयत्न सदा,
काङ्क्षी येन मनरत्न मस्य यवते फाम्ता परा यावता ॥२०॥

आपन्नभाविनि कलानिचये यदीद,
कि तर्हि नैकभवसाध्यफले चरित्रे ।
तत्राऽस्ति योगनवृत्तिर्नहिरात्तहेतु-
रात्मोद्धति पुनरिहान्तरसाधनाऽत्र ॥२१॥

छात्रत्व यदि न त्यजन्ति सकला विद्या मतीतु गता
मन्द मन्दमनुश्रयन्त उदिता ता शिक्षमाणा अपि ।
अव्याबाधपदैषिणोऽपि हि तथा श्रामण्यमल्प गता
यत्कर्माऽस्ति घन भवैरगणितैर्बद्ध च क्षेय हि तत् ॥२२॥

ऋद्धौ कीर्तौ क्रियाया गिरिवरचटने ग्राममन्य यियासौ,
विद्याया गेहचित्या क्षितिगृहकरणे कूपमित्त्वा कृषौ च ।
मन्द मन्द प्रवृत्त स्थिरकृतिरुपयात्यन्त्यमुमेऽपि कार्ये
किं तर्हि मोक्षसिद्धौ चरणमनुचरन् शस्यते नाल्पमिच्छन् ॥२३

यथा जनेषु स्खलना भवित्री, सर्वेषु कार्येषु जनप्रसिद्धा ।
तथाऽन्तरङ्गारिजयप्रवृत्तौ पन्चेति भेदा श्रमणस्य उक्ता ॥२४॥

अज्ञानसत्कारविमोहमादे, कश्चिद्भवेद्रागयुतोऽत्र साधु ।
शरीरयुक्तेयूपकारकेषु, स सयमी सन् बकुशाभिधान ॥२५॥

कषायदोषादिविमोहनाय भवेत्कषायी व्रितथादतिश्च ।
आचारमार्गे ( ज्ञानादिकेषु ) प्रयतोऽप्यरागे, कुशीलसञ्ज्ञ स
मुनिर्विगीत ॥२६॥

तपस्तन्वत शुद्धसाधुप्रतिष्ठा-पदस्योद्भवेद्वञ्चिरुदारलपा ।
सैन्य त्वत्र चक्रधरस्य दाम्यन्, कुप्येन् कदाचित् कुतोऽपि हृती ॥२७॥

कर्तुं श्रमा स्याद्विरल क्षमस्तथा, समद्धिपात्र न तदर्धियोगात् ।
एव मुनि सोऽनुगत प्रकोप, विराधना निपुलता प्रयाति ॥२८॥

यथा सुवर्णं मलिना दशा गता, जहाति जातिं न तथाऽनगार ।
छ वे प्रयोक्ता विजहत्स्वरूप, सोऽय पुलाकामिधया प्रगेय ॥२९॥

इयता सनथा जिनरर्गगवरै – र्गीतपूर्वा समस्ताऽऽश्रवाणा,
तत्र हिंसादिका नियमैं परिन्ता इन्द्रियाणा निरस्यैतदर्थान् ।
क्रोधमुख्यान् पुनश्चतुर उद्वरति स प्राप्तसिद्धनिर्ग्रन्थभावो मुनि-
रतुर्यभेदे पुन शुचितरा परिणतिं प्राप्य निग्रन्थनामा भवेत् ॥३०॥

यन्न छेदो भवेद्वेतोर्ध्रुव कायस्य भास्यसौ,
न्छेदात् तत कषायस्य क्षयो ज्ञानघ्नसमणाम् ।
एव निश्शेषभावाना ज्ञाता स्नातकता गतो,
यस्मात्र लिप्यते जातु क्षीण कर्मभिराप्तिमान् ॥३१॥

बाह्याद्धनादे सुविनिर्गता इमे, ग्रन्थात्ततस्ते व्यवहारनीत्या ।
पञ्चापि नैग्रन्थ्यमनुश्रिता हि विशुद्धिवृद्धेरकुशादिका भिन् ॥३२॥

एता साधकसश्रितान्तरतमोद्धायात् मुनित्वे भिद ,
सन्त्यन्या अपि पञ्च सयमगता सामायिकाद्या भिद ।
नैग्रन्थ्ये तु पुरोदिता भिद इह स्यात्सयतत्वाश्रया,
नोचेद्धेतु उपाधिषु प्रगुणितो नाऽसौ विशेष्ये भवेत् ॥३३॥

त्यजन् स्वीय गृह सर्वानर्थमूल प्रतिज्ञया,
जन्म स्वीय फलीकुर्यात तन्नाऽसौ सात्त्विक पुमान् ।

ज्ञानादिषु प्रतिज्ञा चेन्नावर्ज्ञानितमाचरत,
तत साधुत्वमागत्य प्राक् सामायिकमाश्रयेत् ॥३४॥

बुद्धा यदा भवगता गुणशून्यताऽन्या,
जन्मान्तकाऽऽधिदहनेन जगद्विदग्धम् ।
त्राण गुणौघसहित परिमुच्य धम,
नान्यत्ततो भवमर्मु परिहतुकाम ॥३५॥

गृह त्यक्त्वा दीप्तालयसममिद स्वार्थनिरत,
कुटुम्ब पापालेर्नियतमनुभूत भवगतम् ।
मयैवैनेनेद त्रिविधगतिपूद्दामदमन,
निनैक धर्मं नो पर इह परत्राऽपि सुखद ॥३६॥

ततोऽहं प्रव्रज्या गुरुवरसमीपाद् वरतरा,
गृहीत्वा पापालेर्निजकमभिरक्षामि झटिति ।
विचिन्त्यैव जीवो गुरुपदमितो याति मुनिताम् ॥३७॥

त्याग सचित्तस्य समानभावा, भ्रमिस्तु भूक्षेण धरातले शय ।
केशस्य लोचो भ्रमण पृथिव्या, चर्या मुनेस्तद्धरणे गुरु सति ॥३८॥

त मुण्डयेच्छुद्धतमे मुहूर्तें, भवद्विशिष्ट परिमुण्डने विधि ।
ततो जिनौ शास्त्रकृता विभिन्न—मादेशयुग्म कथित यथाथम् ॥३९।

गार्हस्थ्ययुक्ता न सचेतनार्दान्, मुञ्चन्त आप्ता न यत स्वनीतिम् ।
पट्कायभेदान् सविशेषबोधा—ज्ज्ञात्वा तदीया यतना निषेध्यु ॥४०॥

महाव्रतानामपि लब्धबोधा , सम्यक परित्यागपरीक्षणेषु ।
मुलब्धपारा , श्रमणा द्वितीये, स्थाप्यन्त आ नैश्च्छिन्दयाभिधाने॥४१॥

छेदोपस्थापनीयाभिहितिमुपगमात् साधुपर्यायमत्वा,
गत्वा यस्मात्ततोऽसौ व्रतपरिणतिका सद्धितीयाऽत्र चरित्रात्।
साधूनां सत्चर्या मुनिपतिगणगद्धामिता निश्चया स्यात्,
पश्चात् शान्त भुक्तानि परिणतिमिदं स्याद्द्वितीये चरित्रे ॥८२॥

एवं श्रामण्यचर्यामनुगत गदितो मोहनीयक्षयाय,
तत्रापि प्रान्तभागे यदि भवति यतो लोभतो नाशनीयः।
तत्राऽसौ शुद्ध आत्मा चरणमनुपमं सुयमाधाय तिष्ठन्,
सूक्ष्मान्तं सम्परायं जिनपतिचरणाऽऽदेशमात्रेण हीनम् ॥८३॥

निनाता चरित्र कषायैर्विहीनं, यथाख्यातमेतद्धि यत्र समेषु।
समता पुरोक्ता अधिकारपात्रं, समाश्रित्य यत्नं गतं चरित्रम् ॥८४॥

एवं साध्यस्य कान्ता विविधगुणवती लक्षणीकृत्य पञ्च,
भेदाश्चारित्रभेदा शिवपदपथिका सत्यनाम्ना वदन्त।
सन्त्यस्ते दशापि प्रवरगुणगणा भिन्नभिन्नस्वरूपा,
श्लाघ्य साधुस्वभावा निपुणनिसद्धर्माप्यैया हीनचित्ता ॥८५॥

नम्या सर्वेऽपि जैने परमपदगता ईशितारो गुणाना-
मन्ये स्थान स्थितास्ते ननिपदमहिता सर्वशब्दस्तु साधौ।
यत्तत्रानरूपाश्चरणमधिगता भिन्नभिन्नोरुचेष्टा,
सर्वेऽप्येते समा स्युद्रमवनरपतिभ्यो भेदोऽपि नाऽत्र ॥८६॥

सर्वेऽप्येते नम्यपात्रा मुनीशा, धर्मानीरं स्वपरधर्मातिरिक्ता।
मोहोन्माथे यद्ववरूपा गदैते, नम्या स्तुत्या सर्वदा मत्रि हो ॥८७॥

धर्मातिरिक्तं सकलं समुज्झितं—मनन्तरं चापि परम्परं च ।
तेनेव शास्त्राधिगतात्मरीपा, स्थाप्य शदेतं दुरितान्निवृत्ता ॥४८॥

धर्मातिरिक्ते नहि सद्दृशा स्या—च्छ्रेयस्त्वबुद्धिर्जगतीपदार्थे ।
तथापि पापप्रवरोऽवसाय इतीह नो तेष्वधिकारिणः स्युः ॥४९॥

मिथ्यादृशो जीववधेषु सक्ता, परिग्रहस्य प्रचये च लीना ।
ते त्याग(मोक्ष)मार्गादितरं समस्तं, संसारमार्गं इति सन्निरस्ते॥५०॥

न वाक्यवक्त्रे परमेष्ठिवाचो, निषिद्धा वधे ये च परिग्रहे च ।
तेषां हि वक्त्रे शिवसार्थवाचो, भवेयुरा नैव च तासु रागः ॥५१॥

ज्ञानं मुनीनां शिवमार्गसिद्ध्यै, पर्यायमानेन ततो ह्यमीषाम् ।
अङ्गोदितीनां क्रियते हि दानं, नैव विनन्ति प्रसभं ह्यगीता ॥५२॥

उद्घोषणां कर्तुमलं नयानां, ये सन्नयेषु प्रसभं प्रवृत्ता ।
आरम्भमग्ना नहि जैनवाचां, हीना यथार्थैगदितुं समर्था ॥५३॥

शास्त्राणां प्रथमं कृतं जिनवरैः सद्भूपमं धर्मोदये-
र्यदानाय शमप्रबोधचरणान्यर्थोत्तराणि सदा ।
यत्तु स्वपरिणामस्तनिचिते पाठोऽपि तेषां मुने,
तत्तत्साध्यमृतेऽङ्गमुख्यपठनं शाठ्यं परं कदृशाम् ॥५४॥

मत्यादीनि विबोधनानि मनिनां चत्वारि सन्ति स्वयं,
जातानि प्रशमाकरं श्रुतमिदं तीर्थङ्करोक्तं परम् ।
कारुण्यं भवमानविच्युतिकरं चित्ते निधायात्मना,
न्यस्तं तत्सफलं भवेन्नदि पुनर्दाप्यते मुक्तये ॥५५॥

मत्यान्य सन्ति ससाधना इह, योधा स्वरूपेण फलेनयुक्ता ।
आदियह्यादिफला स्वयात, श्रुते तु चारित्रफल न चान्यत् ॥५६॥

य त्याश्रवेभ्यो न निवृत्तचित्ता, न सवराणा धरणे प्रसक्ता ।
मिथ्यान्शास्ते मतिशास्त्रहीना–श्रुतथा वृपपतज्जनानाम् ॥५७॥

अध्येय मुनिभि सदा गुरुपदोगराधनातत्परै–
यद्वक्त्राद्विनिरति शास्त्रममृत नित्य मृतसौख्यम् ।
वासोऽनेन गुरौ कुले फलभर त्त मुनित्वे धृतिं,
नोक्त हास्तरस्य सयमसुखो धम परार्थोन्नतै ॥५८॥

सद्वेऽत्र पूज्यपदे गुणसमुन्नयुक्ते,
भेदैश्चतुर्भिरुदितेऽमलमागराशे ।
उद्देश एष उदित सफलाघनाश–
स्तत्रोयना मुनिवरास्तत्सेविनोऽन्ये ॥५९॥

दान सुपात्रमिति यद्गदित मुनीना–
स्तत सयमस्य परिपुष्टिविधानहेतो ।
मत्यान्तिरस्य मनुते निरर्थकत्ताना–
यत्पोन्नते परभव शतशास्तनाप्ति ॥६०॥

सुगारिस्त्रिखण्डस्य नाथो विरत्या, हीनस्तथा श्रेणिकरानराज ।
भविष्यतस्तीर्थकरौ सदत्त्, जिनागमस्य मुनित्वदानात् ॥६१॥

मुनिभ्यो नितान्त तनोतीद्धवर्गो, निदान सुराणा धनिश्रावकाणाम् ।
यत्तान्नपानोपष्टतिप्रधान, तेषा भवत् सयमसाधन सुखम् ॥६२॥

यान्य परभ्यो मुनिमिर्यदतद्, सुधाऽन्य हा निहित विमेमि ।
दोषोज्झित तन्मुनिभिगृहीतु युक्त यतो याचितमेव तेषाम् ॥६३॥

अफलित न लभ्यत पर पचिक्रिया यदा,
मनो दधतु साधुपूज्य तदा तु दोषित सकल् ।
अरण्यसूतकादिकेऽपि दानशून्यकाघन,
तनश्च शस्यतोस्थितो मुनीशधम आहित ॥६४॥

फल ग्रातुर्नानात् परिणतिदिग्गामाश्रितमिति,
मुनिस्त्वार्ति भ्रेत्याप्य–इति मनसा ह्यभिलपन् ।
असौ दुष्करकारस्त्यजति च सदा दुस्त्यजमिद,
न जात्वर्थ(र्घं) लेशे लभत उदित लेशविगनम् ॥६५॥

दाता चेद्भवतीदृशो मुनिमभिप्रेत्याघराशिं क्षिपेद्,
द्रव्य चेन्नहित विशुद्धिविधिना पाप क्षिपेद्दूरिश ।
किन्त्वल्प विदधाति नूतनमय पाप पर नानुग,
पुण्य साममुपैति नोधरहितो दाताऽशनादेर्मुनौ ॥६६॥

तारक भवोदधे समर्पक गुणावले,
शोषक तमोदले निबोधक शमाचले ।
आश्रवाम्बुनाशने निदाघतापसन्निभ,
मोक्षसाथवाहमेनमर्चता मुनीश्वरम् ॥६७॥

भवसागरतीरमभिप्लवन यवसवरनिनरणोन्मिलितम्,
जिनमागमनुश्रयितु प्रवण परितर्पयतीह निरीहजनम् ।

गमगोधचरित्रगुणापणत शिवसाधनशुद्धसहायकने ,
गतकाममनुश्रितधमपद परिचारयतिश्रयतान्छ्रमणम् ॥६८॥

भ यमाराधयेन्द्रियपथ साधयेत् गुणगणावाप्तिनिपुण हृदय धरेत् ।
पापमार्गा ुत समरश्रेणिग निजरानहनग मयमधर हृदि चिन्तयेत् ।
कर्मदानानले शमपयो वपयेद् गुणिजने मोदमनिश मनसा वहेत्,
क्षान्तिवारानिधि धृतमघ चिन्तयेन् मदनगे नैव गमन सुजनो धरेत् ॥६९॥

न यस्य रागरञ्जन न लेप आश्रिते जने
सचित्तमुख्यसाधने न सङ्गलेश आप्यते ।
ज्वलँस्तपोजतेजसा दिवाकरोऽप्रदीप्तिमान्,
स सौम्यतागुणैर्जनेषु चन्द्र आप्तवानमुम् ॥७०॥

स ईदृश मुनि सदा श्रयेत भावशुद्धितो,
द्वयेऽपि यान्ति सद्गतिं मुनीश्वरोऽथ वन्दक ।
न जैनशासने मताऽधमगरातिरल्पश ,
प्रदीपकान्तिवत्समेषु जायते फल वहो ॥७१॥

स जैन स्याच्छ्रेष्ठ प्रचुरतरगुणैर्युक्तमनिश,
सदा मोक्षोद्योग दधति च परमानन्दकलित ।
शिवाप्त्यै सत्साधु निजपरिकरतो वत्सलधर,
नमेन्महन् शुद्ध निजजननफल नापरमत ॥७२॥

इति सप्तविंशोऽध्याय ।

। अष्टाविंशोऽध्याय । ( श्रमणधिकार )

जैनाऽसौ श्रमणीगण शिवपथोत्साह धरन्त सदा,
पश्येन् स्वीयकुटुम्बलोकललनावर्गान्मुदा सादरम् ।
स्त्रीत्वाज्जन्मन आरतोऽपरजन निश्राययो जीवित-
स्त सरक्षणमानभक्तिकरणे पुण्यान्च धर्मोचित ॥१

त रक्षन्निजसारसुन्दरतरस्त्रीसार्थमध्ये धरन्,
तस्योपासनया स्वकीयजनन सम्प्राप्तसार नितम् ।
माताखीभगिनीसुरक्ष प्रतिदिन स्वम्योचित्तो मानये-
देत्र चेन्नविधीयते यदि तदा सच्छाद्धतामाश्रयेत् ॥२॥

स्त्रीभ्य पुराऽनेकनिधान् प्रचरन् सुदारुणान् दनरामगणाणाम् ।
सङ्ग्रामलक्ष्यान् महतो भयङ्करान् योऽसौ मुरारि समदीक्षयत्
स्त्रिय ॥३॥

माता पुरा सप्त वरा सुपुत्र्यो व्युद्ग्राहिता कृष्णपुरो विमार्गणे ।
या स्वामिनीत्वस्य कृते स विष्णुना नेमिनाथ सस्ला समपयेत्॥४॥

द्वारावत्या विदाह जिनपतिसुरतो भाविन वेदयित्वा,
शाम्ब-प्रद्युम्नहेतोमरणसुरस्वतोमाद्विदानाद् मुनीशान (तमोऽन्तान)॥
पुर्या तत्राखिलाया प्रवरनरहतयेऽदापयद् घोषणा स,
य अनिदीक्षित स्यात्सुतमसुरतन निरहिष्यामि तस्य ॥५॥

पर सहस्रान् जिनराजपार्श्व, गदयादिलोकान् समदीक्षयत् स ।
विष्णुरूपथाकारणतो न्यबद्ध ( भात्सीत् ) श्रीजिननामाऽचलितस्त्र
भावम् ॥६॥

निष्पापणा मुनिपतिभ्य उपार्नित प्राग,
यत्तीर्थनाम जिनपते परिवन्दनाया ।
तद्वारित फलभर मुनिकाचनेन,
सेवापराभरभजोद्दलनाय दीक्षा ॥७॥

मगधदेशनिसुर्नृपनायको, त्रिविधकृत्भरेण समजयन् ।
यदुतमा छल्ना जिनवीरत श्रमणमागमय समतारयत् ॥८॥

विविधशास्त्रसुधारससेवन , (फल) श्रमणवृत्तिरदम्रफलानता ।
स्वयमशक्तित उग्रमक्तितो, भवरतोऽपि पगन् धुरते मुनीन् ॥९॥

नरा यथा मोक्षविभागणोद्यता-स्तथैव नार्यो भवभानभेदिका ।
दुर्गं सुदुग व्यतिवृत्य मोह-मन तन धार् प्रविनाशयन्ति ॥१० ॥

सम्यक्त्वलाभात् प्रथम सुदीर्घा, भेया स्थितिर्मोहनृपस्य तीव्रा ।
अतान्य ता चेल्लना समीयु प्रयान्ति वैजल्यमिमा ( ममू )
न चिरम् ॥११॥

क्षीत्वस्य हेतुर्यन्भूदमु सा-ऽनन्तानुबन्ध क्षयितु समर्था ।
सा किं न शेपा प्रकृती क्षिपेत भागे ह्यनन्त फलमेव तासाम् ॥१२॥

दर्शने विरञ्धक च यस यत् प्रगीयते,
क्षेपकोऽस्य साधुतोऽपि निजरदसङ्ख्यकम् ।
अस्ति चेन् समथताऽङ्गनाजने सदाश्रिता,
तदा सदा म किं भवत्र साधुतापदान्वित ॥१३॥

न चाम्बर विरोधभाक् परिग्रसम्पदा मत,
यतस्तनोर्न किञ्चिदन्यदाश्रित ममत्वकृत् ।

न धर्महेतुतो मता तनुर्ममत्वसाधनं,
तदाऽम्बराणि किं ततस्तथाभूतानि सन्ति न? ॥१४॥

पत्यौ मृते तदनुकश्चिदिहाङ्गनाजा,
स्नेहाद्विशेषयदि चिता जनतासमक्षम्!
तस्यास्ति दुस्त्यजमिदं किमु चीवरं यद्,
नग्ना न सन्ति बहुश किमु योगिकान्ता? ॥१५॥

स्थानानि सन्ति ललनाङ्गगतानि जीव-
संसक्तिमन्ति यदि नैव ततश्चरित्रम्।
तासां तदा पुरुषकायगतानि किं नो,
चिह्ने गुदे जठरभाग उदीर्यतेऽग्नी? ॥१६॥

षट्कायजीवयतनाप्रयतस्य न स्यात्,
पापस्य लेश इति वारिधरेषु सिद्धा।
न ह्यङ्गनासु यतना नहि, जीवयोधात्,
सर्वेषु च चरणयुक्तमभूषु (न स्यात्) किं न? ॥१७॥

अध्येतुमर्हा नहि दृष्टिवादं, स्त्रियस्तदाऽऽसां किमु केवलं स्यात्।
न जातिहीनाय चरित्रदानं, ततो न किं सोऽप्ययमभ्युपात्तो? ॥१८॥

जिनादिकल्पा न भवेयुरग्र्या-स्थानो(उ)ननपा विविधाश्च यस्मात्।
एकोनविंशच्छरदामधस्ता-च्छ्रामण्यभागोऽपि न केवलं किम्? ॥१९॥

भवेन्मनःपर्ययवेदनं न हि, लब्धो न यस्विहकार्यभार।
ततो न किं स्यात्सकलक्षिपूर्ये, सारदयुक्ता प्रथमत्र भक्तिः ॥२०॥

नाथ प्रहृष्ट लग्ना प्रयान्ति, स्थान तत किं परमेयरम्ना ।
पापोपचित्या नहि सा स्वतन्त्रा, धर्म तु कम्ना परतन्त्रयेनु ॥२१॥

न चास्ति साम्य त्वय उर्ध्वगत्यो , स्पष्टो विरोधो जिनराड्विचारे
( अ निनेन्द्रमुख्ये ) ।
समन्तसौख्याधिमियर्ति माऽन्य, स्थान युन फवलदाभतश्रिया ॥२२॥

तप प्रभावोऽमम आहृताना, नवाघरोधेऽथ पुराण (रोऽप) नाशे ।
अन्यश्रमासा प्रनलो जगन्या-मसौ तत निं न शिन हमूपाम् ? ॥२३॥

विकल्पभेदान् प्रविदर्शयद्भि-र्भाष्ये न्यगादीत्वरलिङ्गभेद ।
भेदो न चोक्तोऽत्र मनोविशोधे, लिङ्गोद्भवोऽस्तु प्रमदासु मोक्ष ॥२४॥

स्त्रियो जगन्या खलु दुष्करक्रियाः , प्रेतऽपि पत्यौ मरणावधि यत् ।
धर्मेन रक्षन्ति सदा स्वशील, मृतपु दारेपु नरास्तथा नहि ॥२५॥

रक्षार्थे स्वकशीलरत्नमुनिधे कोटिं व्यथाना परा,
या सत्यो जगतीह सुन्दरतरोद्भाया न किं सेहिरे ? ।
तासा दोषितपापिका गुणवरीमाप्या दशा को नर ,
श्रद्दध्यादृतकश्रुतिरमयमनो नैरागमौघरिताम् ॥२६॥

श्रद्धा हि धमस्य पवित्रताभृ-न्मूल सदा जीवगत सुगायम् ।
तेद्रोपयेद्वर्गगत सुरामा - स्ता सुदृढमार्गो श्रमणीसुसङ्गात् ॥२७॥

वने कुले चापि भवत्प्रमुख, आज्ञा स्वकीयामनघा निवेष्टुम् ।
निवस्य तस्मिञ्छ्रमणीसमूहो - द्वह गणीश श्रमणीधरेषु ॥२८॥

निवश्य ता साधव उमसत्त्वा, ग्रामान्तरे वासमुपश्रयेषु ।
वासो हि ग्रामद्वदमेव धाम्नि, गणोद्वहस्ता अपर तु नेया ॥२९॥

प्राक प्रत्युपेक्ष्यापरधाम वृद्धा, योग्य मुनीशाय निवेदयन्ति ।
मत्वा निराबाधमुदारभार नेतु पर धाम नयेयुरार्या ॥३०॥

यथाऽवरोधस्य नृपा गताथ, कुर्वन्ति देशान्तरगन्तुकामा ।
रक्षापुरोग नयन तथाऽऽर्ये-स्तीर्थन्त आर्या शुभसत्त्वरक्ष्या ॥३१॥

गणोद्वहा नैव समे मुनीशा, आर्यागण वर्तयितु समर्था ।
आर्यागण वर्तयितु क्षमो यो, भवे तृतीये शिवगो ध्रुव स ॥३२॥

सूत्रे हि पर्यापणकल्पनाम्नि, द्वितीयभागे प्रथमाङ्कसस्थे ।
गण्यानुपूर्वात्पृथगुक्त आप्ते, मार्यासु धत्ते गणधार आज्ञाम् ॥३३॥

यथा पदानि प्रथितानि गच्छे, सूरीश्वरादीनि सुसाधुमान्ये ।
तथाऽत्र पञ्चापि महत्तरीमुखा-न्यन्यानि साध्वीगणपालकानि ॥३४॥

आर्याऽपलापे त्रय एव भेदा , सङ्घस्य वा पञ्च न चेदमार्यम् ।
तत्सूत्रभेद प्रवणो हि मन्यात, साध्व्युदास ननु नमचारी ॥३५॥

कन्या अपि स्पृश उदस्यते स्त्रिया , स यात्वसौ त्याज्य उदारसत्त्वात् ।
स्पृश पुरुषस्य तथा द्वयोभवे - च्चारित्रसारस्य यथार्थरक्षा ॥३६॥

धामद्वय तत्पृथगेतयो स्याद्, गमागमौ नैव न च प्रवेश ।
यथा तथाऽन्योऽन्यसमागमो न, यथार्थतत्त्वा जिनशासनाज्ञा ॥३७॥

अतो यद्यपि श्रुतमागारे श्रुते, वर्षादिहेतोरपि धाममध्ये।
उपाश्रितिं शीलसुसाधनार्थे, न पत्रम स्याद्गृहिणा न वेक्षणम् ॥३८॥

रक्षा श्रमण्याः सकलस्वशक्त्या, समस्य सङ्घस्य निराश्रितसिद्ध्यै।
अतःपुरस्या श्रमणीनाम्य, (रक्षा) प्र्योपसर्गात् सूरिकालकाख्या ॥३९॥

नागभद्रवन्ध्य यत्नत् रक्षणं प्राग
दशशतहतिशक्तो आर्यिकाया प्रकामम्।
रुचिरमुनिविहीना दुर्गनिर्मीलबुद्धा
सकलनलकलामिरार्यिका भ्रातुमुक्ता ॥४०॥

परिपेलवसत्त्ववता श्रमणी, शिवमार्गपरा नितरां विमला,
शिशुबालतपस्वि जराजरिता, किमु रक्ष्यपदानुगता न मता।
रहिता व्रतधारणया गृहिणो, यदि तामसहा पटयेयुरिह,
व्रतलोपमधिश्रयति प्रवरा, तदुदाहरको नहि सर्वविद् ॥४१॥

तत्त्वतोऽसुमाश्रहि सवेदधारको निभु
यत समस्तवेदनाशसम्भवा समस्तविद्।
वैपदेहमाश्रितो विकार आत्मनो ननु
न बाधते यतः सको न मोहजातिसम्भव ॥४२॥

यदि च सङ्गमात्रता विबाधिकाऽस्ति केवले,
मरेन्द्रे सतीह कोऽपि चीवरेण वेष्टयेत।
तदा विनाशि केवलं किमूररीकृतं नहि?,
यदाङ्गनाशकेन चेत्तदा तु नश्यति श्रुतम् ॥४३॥

यदि च संहननं नहि योषितां, प्रथममेतदरिष्ठमवाससाम्।
यत इदं नहि जैनमते क्वचि-द्रूषति कीकसवो ऽनलश्रिताः ॥४४॥

मनुजी यो जातिमाप्तो नरभरसहितां स प्रभु केवलाय,
संहननं यो बिभर्ति सकलसुरगतिप्रापणाद्यासभाजि।
विघ्नानां घातिजानां क्षणभरकृतितो नाशमाधातुमर्हं,
मत्वेदं सर्वदा शिवपदसविनु दूष्यतोऽर्हा श्रुते न ॥४५॥

वेदो नपुंसकमपि पुरदाहतुल्य-श्चेद् दूष्यतो न विश्वसिति निबाधमाल्या।
भावात् ते प्रवरमाप्य बल स्त्रीऽपि, श्रेणे क्षयं ननु व्रजन्ति न
चापि शङ्का ॥४६॥

प्रवरवरशासनं जगति जिनशासितं, द्रूष्यमेकान्तिकं न हुनाच,
प्रबलतरमोहत परवशितचेतनो द्रूष्यमेकान्तिकं प्राह मूढ।
सिचयचयसाधनं द्रविणलवनाधिलं वेदमाहात्मयुक्तोऽघमोक्षि,
श्रृणुत सुजना जनि वरसुफलसाधनी वाचमाधत्त चित्ते स्वकीये
( ऽहृद्रुता ) ॥४७॥

वामोऽन्विततात् सितपटाद्वरदिग-म्बराणा, जातं प्रभवं इत्यभरस्तदङ्गा।
प्रश्ने कृते जनतयाऽम्बरसत्त्वजाते, दिक चैव मेऽम्बरमिति प्रतीता
तदाख्या ॥४८॥

प्राक् पार्श्वनाथजिनपस्य बभूव सङ्घ,
साधुङ्कर कलितसर्वसितादिधिषणम्।
यत्र दधदरमतीथगतस्तु शुभ्र,
ख्यात ततो जगति शुभ्रपटा इतीमे ॥४९॥

ईर्यांया नहि साधुतामनुमता निर्ग्रन्थकाणा यतो,
रात्रावौ एवुनीतयऽपि रियन् कुर्यात्कथ रक्षणम् ।
जीवाना करिपादवद्धि दधत भवनाम्बरा आयत,
पादान्मानममि सम्भवपद जीवायन निश्यपि ॥१०॥

सूक्ष्माणा नहि रक्षण भवभृता यत्न विना वादिनो,
नव स्याद् भ्रमरोपम हि गमन भामादिहतोदते ।
निष्पात्रस्य कथ ग्रहोज्झिती पर स्याता निजोपक्रिया,
हा ! हा ! निश्चितनग्नमूल्चरणोऽसौ नग्नरायो मुनि ॥११॥

यथा जिनाना वरतीर्थनाम्नो, भोगे भवेदिन्द्रसुरै कृताया ।
सत्प्रातिहार्याभिराचनाया, अरागभावात्तु न दोषलेश ॥१२॥

तद्वचने तत्प्रतिनिम्नराने विचित्रवस्त्राभरणैनुधानाम् ।
ना चेदसौ तर्हि कथ विचक्षु—वस्त्राञ्चलादीक्रियतेऽकदर्चा ॥१३॥

निषेधिश्रिताधारा परिणतिमिता विश्वविषये,
यदेक निर्माय प्रदमशुभकस्याऽस्ति न विरति ।
क्रिया लुप्त्वा शार्दा परिणतिमितोऽसौ जिनपते
विलोपायाऽक्ष्णोऽस्तु शतमुखनिपातो विधिकृत ॥५४॥

दिग्वस्त्रैरललनागणैर्मदनुगै शोन्य इय स्यात्तरे,
सम्यक्त्व कथमाप्यतेऽधिगमिक सूत्र च योग्य कथम् ।
चेत् साध्व्या, नहि सा पुन श्रुतमृते साधो प्रसङ्गे तया,
वृत्तिभङ्ग उदीयते तत इत चीरेण नाश मतम् ॥५५॥

सङ्ख्यातीता स्त्रियोऽगु शिवपदमसम प्राप्य कैवल्यमर्थ्य,
मैवेये ते हि जग्मु सचरणभविनो ये नु चैते पुमास ।
तन्नेयुर्येऽप्यभव्या न च पुरुषरता नैव चैता अनाप्य,
प्राप्याऽप्येना सघय स्युसदपगत शुभम्यास्ति या ना प्रसार ॥५६॥

श्रीआदिनाथेन निधेर्विधात्रा, बोधाय मुक्ते भरतानुजस्य ।
आर्य, ततश्चाप स बाहुसाधु-निर्मन्थयोर्वै हमितप्रमावे ॥५७॥

चरितमपि चरित्रा नेमिनाथस्य बन्धु
प्रनपथरहताये योपदेश ततान ।
स्थिरतरचरणोऽसौ बोधमाप्य प्रजात-
स्तत इति न समोऽस्य राजिमत्या प्रयत्न ॥५८॥

भूपेषु यथा नृप आहत श्री-सुहस्तिपादाम्बुजभृङ्गरूप ।
श्रीसम्प्रतीति भरत सशोभ, चकार यश्चैत्यमुर्वीविभूपै ॥५९॥

सुस्थितस्ते भरते निरखण्ड, स्वदीक्षितानेकमुनीन्द्रवर्यै ।
प्रस्तारयामासुरनेकशाखा-प्रशाखयाऽशेषधरा सुसाधून् ॥६०॥

नानाचार्यान् विविधविधिना पाल्यन्ती जिनाना,
धर्मस्योमा सकलसुकृतिना भाविमोक्षप्रधानाम् ।
ख्याति चक्रे प्रवचनयशसे सोदरैणाप्तसद्भाव्,
नाम्ना यक्षा प्रवरमतिघनाहायगिर्यार्यधर्मा ॥६१॥

माता गुरुभ्योऽर्पित आर्यवज्र , षण्मासमात्रास्त्रयस्कबाल ।
स्तोपाश्रये त धृतवत्य आर्या , कथ न सद्घस्तदुपक्रिया स्मरेत् ॥६२॥

जैनोऽसो निधिनद्धाति हृदय स्वया जनाना मतिं,
जैनेन्द्रे वरधमकमणि परा कर्तुं सुवासोऽराम् ।
चिन्ता तत्र निशेपतो निजकुले मात्रादिके स्त्रीगणे,
ना सक्लीकुरुते श्रमेण सुदृपार्यासङ्गतो बुद्धिमान् ॥६३॥

आर्याणा महिमाऽयमात्तयशसा यशस्य यन्निश्चल,
शील मेरुसम विभर्ति ललनालोक' ममस्तोऽमलम् ।
तन्निपोऽत्र भवेत्यदीतरकुले जात नर न स्पृशेत्,
शीलेनात्तयशा भवेच्छ्रमयुता रामगरक्तो भवत् ॥६४॥

यथामार्याकुल नो सुकृतकृतिविधौ शुद्धमागप्रदष्ट्,
धर्माचारे प्रवीणा सुकृतकरणनि देष्टुमर्हाऽबलानाम् ।
शुद्धा धमस्य चेष्टामपरकुरुपत स्या च धमप्रवृत्ति ,
स्त्रीणा नो तत्र शील भवति ऋजुशीला धमनाम्नाऽधमगता ॥६५॥

आर्याकुलेनापि तथात्र काय, श्राद्धयो यथा स्यु सुकृतोद्यता दृढम् ।
वर्गो महान् यत् पुरुपादधाऽऽसा, कुल च धमप्रवीण व्यधास्यन् ॥६६॥

यथा च मोद न व्रजेयुरन्य-कुलोत्थिते पुंसि पराश्च धर्मे ।
भवयुरेवा व्रतधारिवृत्तँ , सत्कारमाप्या श्रमणीजनेन ॥६७॥

निसर्गसम्यक्त्वमुदीरित श्रुते, श्राद्धाभकाणा प्रवर तदेतद् ।
आयानन्नाद्धमपरायणत्व, जात समारत्यात्मबलाननम्य ॥६८॥

शोभनस्य कुलधमसद्विधे-र्या पुन फलपरम्पराऽनघा ।
भाविनी भव इहापि ता पुन-र्गयेयुराधिका न चापर ॥६९॥

श्रमण्या सत्कार विपुलविधिना श्रावकजनो,
विदध्यान्नित्य चेत् कुलमपि सकल तत्स्तुतिपरम् ।
भवेदेव धमाधमपरहृद सर्व उदिता-
जिनेन्द्रै सद्धर्मोञ्चलयितुमल नाऽमरगण ॥७०॥

जैनोऽसौ धममूल विनयमधिगतो धर्मकार्योद्यतेषु,
साध्वीवर्गेषु यस्माज्जिनगणयतिना या गुणाना प्रसत्ति ।
ता सर्वां मूलरूपा विशदतमगुणामेव धर्मा दधाति,
मान धत्ते गुणाना य इह नरगणो धन्य एवैष जैन ॥७१॥

इति अष्टात्रिंशोऽध्याय

। एकोनत्रिंशोऽध्याय । ( श्रावकाधिकार )

जैनो यो मनुते भवाच्चिमटता सूक्ष्मान्निगोदाद्वहि-
र्निस्सरण नहि दुष्कर परस्त लोकानुभावो यत ।
सम्मील्याश्रितभव्ययाऽपनिचिर्ति दु खित्वभाव धरन,
निर्माय्याऽल्पमसुश्रित नयति तनेद फल स्वोद्यमात् ॥१॥

एव क्रमेण समिलायुगयुक्तितत्स,
मोक्षस्य भूमिमनधा नरता च तत्र ।
देश कुल प्रवरजातियुत लभेत,
सुनाद्धमेकमलमश्नुत आत्मयत्नात् ॥२॥

मोहस्य सस्थितिमिय क्षिणुतेऽप्ययोधा-
दब्धोनसप्ततिमितामधिका च किञ्चित ।

पारावारपु नितग त्रिकोटिकोटि,
नैव यथापि लभते भमणारसयाम ॥३॥

भव्यत्वभाव परिपच्यमान, मर्यादिताशालदुपयवस्थित ।
इतिभवेदामत ईस्नी या, भेदस्तु मार्गा पुरिदाभभावे ॥४॥

न तादृशीयन्तमगाटयनो भव, प्ररोचयामास इति कदापि ।
गीत ह्यपूर्वं मत एव विशि–रप्रान्तपूर्वं करण इति ताम् ॥ ॥

नैतत्स्यापि पृथ जगदुभयतो धनायित्वाऽऽगमयन्त,
जात कस्यापि जन्तोन भवति भविनो मायिनीढऽपि काले ।
तदस्य स्वात्मयत्ने प्रचुरतरबले स्फारित भव्यभावाद्,
जात भाद्धत्वमस्मान परममधिगतो शुद्धसम्यक्त्वलब्ध ॥६॥

एतस्मिन्ते निधायेतरजनहृदय सत्त्वनिष्ठां प्रमाय
शुश्रूषा धमरागो जिनगुरुविषयऽभिमहो व्यापृतौ चेत् ।
सत्या ज्ञेया हि तस्मिन् परिणतिरमला शास्त्रवाक्यान्वयेण,
स्वस्मिन् ज्ञान यदङ्ग न च परयशिनो नैतदपराङ्गताभाक् ॥७॥

सत्त्वेऽस्य स्वात्मनोऽपि प्रभवति स्थिरता निरतानाद्धितेऽर्थ,
जीवादौ स्यात्पदाङ्का स्थिरमरताऽकम्पनीया सुबोधात् ।
द्वेधाऽस्या दुःखधाम्नि कर्मनुधृणयोद्विग्नता जन्मयार्द्ध–
मोक्षे लीन मनश्च न भवति क्षणमस्त्वभूते (माथ) दुरात्मा ॥८॥

सम्यक्त्व शुद्ध (भाव) स्वने धृजिनचयहते प्रापित तीव्रभावाद्,
यनेनामामलत्वकरणहनिभरे स्यात् प्रवृत्ति श्रुनर ।

श्रमण्या सत्कार विपुलविधिना श्रावकजनो,
विदध्यान्नित्य चेत् कुलमपि सकल तत्कृतिपरम् ।
भवेदव धर्मायमपरहद सव उदिता-
जिनेन्द्रै सद्धर्मान्चलयितुमल नाऽमरगण ॥७०॥

जैनोऽसौ धर्ममूल विनयमधिगतो धर्मकार्योद्यतेषु,
साध्वीवर्गेषु यस्माज्जिनगणयतिना या गुणाना प्रसक्ति ।
ता सर्वा मूलरूपा निशदतमगुणामेव धर्मो दधाति,
मान धत्ते गुणाना य इह नरगणो धन्य एषैव जैन ॥७१॥

इति अष्टाविंशोऽध्याय ।

---

। एकोनत्रिंशोऽध्याय । ( श्रावकाधिकार )

जैनो यो मनुते भवाधिमटता सूक्ष्मान्निगोदाद्बहि-
निस्सरण नहि दुष्कर परहृत लोकानुभावो यत ।
सम्मील्याश्रितभव्ययाऽघनिचिति दु रितभावे धरन्,
निर्माय्याऽल्पमसुखित नयति तमेद फल स्वोद्यमात् ॥१॥

एव क्रमेण समिलायुगयुक्तिवत्स,
मोक्षस्य भूमिमनवा नरता च तत्र ।
देश कुल प्रवरजातियुत लभेत,
सुश्राद्धमेकमलमश्नुत आत्मयत्नात् ॥२॥

मोहस्य सस्थितिमय क्षिणुतेऽप्यबोधा-
देकोनसप्ततिमितामधिका च किञ्चित् ।

तदा ध्यान्याद्वार्ता भवभ्रमणपन्नगुण ।
कथं मोक्षो ज्ञातोऽप्यभ्यविरमो न स्थितिरिति ॥१४॥

यथा धान्या गुन्नान्यवतिनिम्भान्यभिर
भवन्तीष्टोपवती क्षपिष्ठानिन्दाधिगमतो ।
भवर्णान्दध्येयो पथनविधिभिर्सिद्धिरतु करणा
तन्त्रज्ञानतान्याम् भवमकरणाम्भा इह ॥१५॥

जीवनाधिगत निसर्गजनित सम्यक्त्वमादौ न धो
तज्ञायेन गुरोर्निस्मत सयोगमद्वारदत ।
भाद्वाला धर्मयोगतोऽधिगमज प्राप्ति गुणाम्य च,
सयोगेश्वर न कायकुदयेन यथार्थीभसिद्धिप्रभ्य ॥१६॥

चैत्येभ्योऽपि च जायते जनिभूता सम्यक्त्वमेतत्पर,
चैत्यानि प्रतिबिम्बमन्तियुताचेकाचिन भावरान ।
स्फुर्तेर न च तानि सन्मतनिद्वार्थोग पद चायते,
चैत्यानां निजबिम्बराजितपुर्णं योग समूहोचित ॥१७॥

जिनवरागमपारगो मुने, गुणिवरागमयगुणधोरिति ।
भवति सद्गगुणरताभितो, गुणिवरागमत समवायत ॥१८॥

सम्यग् क्रिया धर्मभव्यो जनाना, स्यु साहूचर्यात् सगृहे भवत्त ।
इमाभयाम दधतां स्युः स्यात, धर्मागतानामपि धमनाय ॥१९॥

धर्मो द्विधाऽऽद्य महकारमाध्यो निधारमाध्यश्च भवेद् द्वितीय ।
धामस्यसाध्य द्वितीयेऽपि तस्मिन्, नोचसिरवापरियधानि ॥२०॥

अन्धोऽरण्य प्रयातो यदि शुभसुहृतो दशकादध्वयाया,
चेद्‌पोऽशुभभावी दुरितचयधरो याति मार्गं श्रमाढ्यम् ॥९॥

यथा न भाविभाग्यवान् पृथोपदेशदायकान्,
शरणमेति भाविसौख्यसम्पदा समन्वयात् ।
तथा कुतीर्थ्यैतन्मतानि मन्यते न दर्शनी,
मत ततो हि दर्शने सति श्रुत शुभ ननु ॥१०॥

एव प्राप्त स्वय स्याच्छुचितरमनन स्तु परेऽपीदशार्थेन,
सयोगः श्राद्धवर्यैर्भवति नियमतो धर्मकल्पद्रुमाम्बु ।
सयोगा सद्‌रूपा निखिलजनचर्यैर्लब्धपूर्वा ह्यनन्ता,
सयोगः श्राद्धलोके भवति तु कतिचिज्ज ममाधान्न भूरीन् ॥११॥

सम्यक्त्वाराधन यद्भवति भवभृतो रजयित्वा विराद्धिं,
सञ्चाप्तौ जन्मभावान्न परत उदयो यस्ततो मोक्षधाम्न ।
एव श्राद्धैरपि स्याज्जिनमतरसिकैस्तद्वत स्वस्य योगो,
ज्ञात्वैतद्दुलभत्व शुचितरमनसा सादर श्राद्धलोके ॥१२॥

कुल सच्छ्राद्धाना सदृशमनघ देवमणिमि-
यथा तान् भाग्याढ्यो भवति नर आराधनपर ।
तथाभ्यत्व स्याद्यदि च परिपाकगतिमन्,
सुसम्प्राप्त श्रयान् भवति जिनमार्गमतिमान् ॥१३॥

यथाऽभ्याना स्याज्जिनपदादितर्थीतपठन,
घने मोहे क्षीणे पुनरपि च तस्मात् क्षपयति ।
यत्कारात् पाठे सुगतिगमन धर्मकरणात्,

सुव्याप्ता जगतीह जैनमतिनी श्रद्धा समस्ताङ्गिभि
स्तस्या दुष्करमेव सौम्यमनसा मुक्त्यै समाराधनम्।
मार्गो विघ्नकराणि कर्मदलिकान्युद्वेष्टयेद्धयना-
ऽऽरम्भार्थोत्थिमोहरक्तमनसः स्याद्दुष्करं पालनम् ॥२७॥

नैवाश्चित् फलभावनान्तसुभगा श्रद्धा नराणां यत,
संसारं भ्रमतां भवाश्रितिमतां विघ्नोत्करोद्भूतय।
स्वल्पान्येव हि साधनानि मतिमत्समगमार्गेद्धया-
न्येतान्यात्मरलातिरिक्तसहितान्यर्थप्रदानीह नो ॥२८॥

रम्येव भवभावतानवरता ता नेतरेऽर्हा श्रनी,
चिन्तामण्यमरद्रुमातिविपरा नन्त्यान्तरा सत्कृतिम्।
स्वाल्पेषु भवेन चेत् सुधिकया तेषामनाराधना,
तत्माय फलमश्नुतऽत्र तदिराहत्यामने सद्रुचि ॥२९॥

प्राप्या श्रद्धा सुगुरु स्वाश्रितपरिजनग स्याद्गुणानां समूहो,
मार्गानुश्रायस्त्री मुनिपतिकथिता पञ्चयुक्ता च त्रिंशत्।
न्त धान्यं प्रभूतं भवति यदि भुवि शक्राद्य न भूरि,
श्राद्धानां भाग्यमेतत् प्रचुरतगुणैर्वासितं यत्कुटुम्बम् ॥३०॥

एषा गुणानां सुऊभा स्वसत्ता, स्वतमन प्रादुर्मुनिशम्नरूपा।
हेतुर्भवेत्तत्र सुभत्यैव, भाग्योदयोऽयहगुणाळयेषु ॥३१॥

निपगृहे पुनरात्ससुमंस्कृति, यदि भवेत् सुकृतावनवधने।
इतरथा तृणपुञ्जसमुद्भम-मज्शमेव न रक्षणवधने ॥३२॥

इस्ते समुत्पत्तिरथ प्रयत्नात् , स्थितिश्च वृद्धिश्च तत प्रसूते ।
समग्रमेतत्समुनायसाध्य, मत्वेति कुर्यात् सतत सुसङ्गम् ॥२१॥

प्रबलम्बरपुण्यत कल्पनातिगसुख, साधनै सह नर शुद्धमेति,
प्रचुरतरमोहज सञ्चितो नहि भवेत् , प्राणिन क्षपधर कृष्णलेश्य
(तीव्रमोह)

सुगुरुचरणाश्रित शास्त्रशासनयुत प्राप्नुते जिनमत स्वल्पयत्नात् ,
अपगतकुकर्मक सिद्धजिनधर्मको मन्यते सुरतरु श्राद्धवर्यम् ॥२२॥

आत्माऽनादित आहितो घनमरे मिथ्यात्वपङ्कोद्धुरे,
नैव ज्ञातमनेन सुदुस्तर नित्यस्वरूप निजम् ।
तस्सव जिनराज एव विमलज्योतिर्भरेणेहित,
भव्येभ्य उदयाय तन्निगदित मत्वा जिन मानयेत् ॥२३॥

रागद्वेषमुखारिवर्गनिलयाञ् ज्ञात्वा समग्र जगत् ,
स्याद्वादाङ्कितसर्ववस्तुनिकर भव्याय मोक्षाप्तये ।
योऽदिक्षद् वितर्येपिणे मननभूरूप स्वरूप पर,
जीवाद्यर्थचयस्य तच्छुचिमना श्रद्धापथ नाययेत् ॥२४॥

भावा भविष्यन्त उदाररूपा-स्तदा यदा शान्तमना इदानीम् ।
जीवस्तथाऽसौ शुभशास्त्रसक्ते-स्ततो यतिभ्य श्रवण क्रियेत ॥२५॥

ससङ्गश्चेदन्यो रुचिततरवस्तुविषय,
स सन्तोष्यो दत्त्वा कलितविषयादिवस्तुमनन ।
स सेव्य स्याद्धन्यैर्निरुपमविधे सेवनगतात् , ॥२६॥

पापप्रहाणस्य समस्तधर्मे, सुव्यापकत्वात् सुरभावसाम्यम् ।
गुणे चतुर्थेऽच्युतवर्त्मनि तद्वद्-दशाद्विरंचिं श्रितवत्यपीह ॥४२॥

भव्यस्य पञ्च यथैव भाव्या, क्रमेण सम्यक्त्वसुखान्यवापुः ।
स्थानानि तद्वद्भवितव्यतागुणा-न्मुक्तिभविन्री लघुदीर्घकालात् ॥४२॥

ततो न दीर्घऽमरजीनिते वा, लघुन्यपीष्टस्य विलम्बचिन्ता ।
श्राद्धा द्विधाणुव्रतसहिता वा ऽन्यथा न तत्राऽस्ति भिदा सुरत्वे ॥४३॥

सम्यक्त्वसत्त्वे यदणुव्रतानि, योग्यत्वमाञ्जि परथा न चैव ।
गाताथनागैस्तु यदुक्तमेतत्, त्रसेतराणा मननाद्धि योग्यम् ॥४४॥

गुणक्रमो य प्रतिपादितोऽस्मिँ, स प्राग्गुणाना स्थिरताविसिद्धयै ।
न चाभिमाणा भवितव्ययोगा-दुपागताना निनिषेधनाय ॥४५॥

> नित्य सम्यक्त्वशून्या अपि जिनवचनादोघत साधव स्यु-
> र्ग्रैवेये दवभाव परिणतिशुचयोऽनन्तसङ्ख्या प्रयाति ।
> सम्यक्त्वाप्तिहेतुयत नन्तितरा व्यायते जीवरक्षा,
> तस्मात्स्थैर्याय सोक्तिन तु गुणहृतये तत्त्वविद्वेगमेतत ॥४६॥
>
> अमयत सयतता वदन् यो, मतोऽस्ति पापप्रमणीयमध्य ।
> शून्य स साधुव्यवहारवृत्त्या, तथोदिति सयमिनन्दनाय ॥४७॥

सम्यक्त्वचिह्नानि शमात्मिकानि, निजात्मनि ज्ञातुमिद मतानि ।
परात्मनि ज्ञातुमिद तु धर्म-रागात्मिकानि प्रथितानि शास्त्रे ॥४८॥

एव च तत्त्वातपरधर्मरतानपि, स्वाचारमात्रिय निजे द्रधर्मा ।
साधर्मिक त मनसा प्रबुध्य-माने न मिथ्यात्वकणोऽपि भावी ॥४९॥

जिनगृहे तु गुणा स्वजने पुरा, यदि भवेयुरपीति मुग्ध्यताम् ।
निजकृतर्यदि सम्भव उद्धरो, वरतर त्रिकसप्तमिता गुणा ॥३३॥

अगम्यकुम्भ शुभवासनामित , प्रशस्यते प्राशयरै प्रकामम् ।
तथैव य स्याज्जिनधमवासितो-ऽवाम्य कृतार्थ्यै स वरोऽस्ति
जैन ॥३४॥

नन्दनभागे शुचिसौम्यरम्ये, कुवासनालेशविमुक्तिशुद्धे ।
लोकोत्तमाना शरणे प्रभूणा, ध्यान सदा मङ्गलकारणाणाम् ॥३५॥

एतादृशो गुणवतो जिनसिद्धसाधून्,
धम च यो धरति नित्यमरागरोप ।
सत्य स एव परधर्मगतान् समूहा-
न्छ्रेष्ठो यथा मणिगणोऽमरकाचजाते ॥३६॥

जिनवरान् श्रुतसारनिबोधन कृतपरस्परधमविरोचन ।
शिवपद प्रति यत्नवता समा रुचिरतो भवतीह गुणोत्तम ॥३७॥

परमतानि कृतेषु गुणान् बहून् जगति सर्वजनाभिगमन्ति तु ।
जिनमत निजरूपमुपानय-प्रकृत आह दुरात्मन आश्रयात् ॥३८॥

यतो मताना निजरूपता तत-श्चारित्रमोहोऽनुमता विबन्धक ।
ज्ञानि नाल्पेन दुरामरान्य-मतानि मुक्त्वा जिनराजमेकम् ॥३९॥

चारित्रमोहस्य निबन्धकत्व, पापानिवृत्तेर्नहि तत्प्रतीते ।
तस्याश्रिताया प्रतिबन्धकत्व, कथेरन ताश्रितमित्यनन्ता ॥४०॥

धर्मादिकार्यं सुसहायनिष्ठं सहायका धर्मपरा भवेयुः।
अनन्यभक्त्या विदधीत भक्तिं, कुटुम्बिलोकाद्‌हितकार्यकारिणाम् ॥५९॥

मनोऽनुसृत्याऽध्यवसायभारो-ऽन्यथा मनोरञ्जितनातिकानाम्।
तदन्यथात्वेऽपि ससाधने नरे, भवत्प्रवृत्ति सफला ससाधना ॥६०॥

मनश्च कायेन तदीयवर्गो-नादाय निष्पाद्यत आत्मरूपम्।
कायश्च जीवस्य गृहीतरूपो-ऽनुसृत्य तद्रूपभवो यत स ॥६१॥

सुमातुरल नयहीनराद्ध-मनुक्रमत्वा स सुमोप गहम्।
यान्त गृहस्थ समभापिपत्त-ऽन्ते प्रजग्मे किमु नीतिहीन ॥६२॥

चैत्यारम्भ प्रवरतरफल श्राद्धवर्गस्य कार्यं,
तस्मादन्य भवति च फलय नीत्यनीत्यो प्रसारात्।
तत्राऽऽरम्भ द्रविणमलय यस्य तत्तस्य देय,
सत्पुण्यायऽशुद्धनकविषय यान्त्यमेतस्य सोऽय ॥६३॥

गृहस्थधर्म प्रवर हि दान, न्यायागत तत्प्रथम निर्दिष्टम्।
श्रद्धानभाजा सुफलास्तत स्यु-द्रव्येण शुद्ध यदि दानकार्यम् ॥६४॥

भावा हि दाने फलदानदक्षा, पर न सोऽन्यायपथानुगाणाम्।
समस्तमेतन्मनसा विचिन्त्य, कुर्यादसौ सद्व्यवहारशुद्धिम् ॥६५॥

न हिंसकृत्या न च धूर्तमाज्यात्र चौर्ययोगाच्च च वञ्चनात्।
यद् द्रव्यमात्त न कलङ्कमात्मा-क्षाभक्रमो यत्र न लङ्घित
स्यात् ॥६६॥

तथैव योऽभ्यतया जिनेन्द्रधर्माम्बुद मुद्गशिलासमान ।
तथापि शुद्ध मुनिचयया मुनि, यदेव तत्राऽस्ति कणोऽप्यघाप्त ॥५०॥

श्राद्धस्य चर्या जिनपम्यद्याज्ञा, धार्या सदा मस्तकमञ्जरीव ।
जहात्यपथ्य सुमती रुजातुरो, यथा तथा दर्शनिनो विमिनान् ॥५१॥

सम्यक्त्वचर्या जिनपूजनाद्या, करोति ससारसमुद्रसेतुम् ।
स्थिरा मति प्रत्यहमाद्दतामि , क्रियामिरस्मात् प्रतिघस्रमुद्धर ॥५२॥

आवश्यकषट्के मुनिमानसिद्धयै, शिक्षाव्रतानीष्टदिने विधयात ।
दान सुपात्रे मत्सुपर्वशील, चित्र तपो भावममोघमेयात् ॥५३॥ युग्मम्

स्वाध्यायलीनो श्रतभावरूप-प्रमुख्यदर्शिश्रुतरत्नराशे ।
सर्वास्वरस्थासु निधानभूत स्मरेत सत्य पञ्चनमस्कृतिं च ॥५४॥

श्राद्धत्वशोभावहने प्रवीण , परोपकारोऽस्ति ततोऽत्र यत्न ।
यथात्मनो जीवितमेव षान्त तथा समेषामिति तत्प्रदेयात् ॥५५॥

त एव धुर्या सुजनेषु ये स्यु-गुणार्चितानि स्पृहमचयन्ति ।
तदाऽमितान् प्राप्य गुणान त्रिजगाध्यो-ऽहेशास्तवहो न हि किं

जिनशा ॥५६॥

गुणानाधायान्ति सुजनसमुदायो गुणिजनान् ,
गुणाप्त्युद्देशान्वेद्व्रजति नितरा वै समुचित ।
ततोऽर्हन्तोऽर्च्या स्युर्जिनपतिगुणानां स्मरणत , ॥५७॥

दैवो धर्मा जीवरसुरक्षायसस्त्व, जीवे न स्यादैव स्वहानगम्यम् ।
अज्ञातऽस्मिन् साधन तत्फल च, नैव स्यात्तत्सूरिरत्र्या बुधानाम् ॥ ८॥

जीवस्यास्ति विकम्पन पर इति त्रासोद्यनात्रायते,
पट्काया परिरक्षणीयपदगा जैन परो मन्यते ॥७२॥

शास्त्राणा विधिराज्यराशिरधुनत्पापप्रतानोदय,
यत्सङ्ख्यागतमानमेय इह तद्वाक्य सद्युक्तियुक् ।
ताभ्यां यत्र निवारित पदमधो याज्यै सदुद्धेलारद्,
दृष्ट्वा तत्प्रतिदर्शनात् क्षणमियायानन्द्य सङ्गति ॥७३॥

मत्वैव वरधर्ममार्गनिपुण श्राद्ध पर सवसेत,
ग्रामे यत्र जिनेन्द्रचैत्यततय स्यान्त्यागमस्त्यागिनाम् ।
निष्णा धर्मविधौ च जैनमतगा क्षेत्रे गतोपद्रव,
मत्र स्युर्गुणगशय फलधरा सत्स्थानकानन्दितान् ॥७४॥

श्राद्धस्य जन्ममरणोज्झितमेव धाम,
प्रार्थ्यं, न तच्च श्मनन जिनेन्द्रियाणाम् ।
चारित्रमेव पटु तत्र तत्त स्वतन्त्र-
सत्कारके सुरद्रुमानयुतश्च सङ्घे ॥७ ॥

गुणाय यस्याज्जिनराजमार्गे, पूज्य तदवनि सुपुस्तकानाम् ।
पूजा यत्नयत्रद्धि साधन स्या-त्फलौ गुरूणां गुरुरेव तद्यन् ॥७६॥

आराधनन जिनपादिगणस्य मुक्ति-
राराधन च परिणाममनुप्रधानम् ।
मत्वेत्थम सोऽनुसरन् क्षणालि,
यथाथशक्ति मतनु क्षणाँस्तन् ॥७७॥

लाल श्राघा शासनन्यात्तमा स्यात्–यद्वन्दुद्ध्या नो तथाऽन्यै सुकार्यैः ।
तियग्घ्वाली यद्दानहतो–ष्टित्रोद्धशादानयन्तीह देम ॥६७॥

पत्तन पटुतरो धर्ममहिमाऽसमोऽशेषणैनेन सत्वरमुपेय ,
भ्रमणात् पटुतरात् मानमहिमाद्दतात् शपकार्यण नो सुघटतेजा ।
भावना पटुतरीं लोकसमुदायजन्या क्तुमर्हेण जैनमतनाता,
स्यन्नो वरतरो दत्तदसन्निभो भ्राम्यते दानकीर्तिपरगान ॥६८॥

श्रीशत्रुञ्जयरैवताचलगिरिश्रीयत्प्रभावार्बुद–
जीरापल्लिमुरणसानुसहित मम्मेतशैलोऽञ्जन ।
यात्रेषा करणीयतापदमित स्याद् दर्शन यद् न्ढ,
तीर्थेशादिविहारनिर्वृतिमुखोदन्तावले सस्मृत ॥६९॥

धाद्ध मवजिनेशशासनरत्न सूक्तमेव पद,
ससाराम्बुधितारणेऽसमफल द्वार नरामत्यदम् ।
एक शाश्वतसिद्धिधामगमने सामायिक मत्वल
मत्वेत्यात्मनि शान्तिमुद्धरति ससारप्रवक्ता मुराम् ॥७ ॥

दोषा ये क्रियया भवन्ति भविना कष्टप्रचायोन्मुखा–
स्ते सर्व सुनया निरुद्धरतितम्नम्या पदो मार्जनात् ।
दुर्वास्याज्जिनरागगीतपदतोऽर्थाना प्रत्यापोर्हि रतात्,
ससारे भ्रमण गतान्तमिति वाक्चेष्टा श्लोका स्मरेत् ॥७१॥

राजा रक्षति रक्षणीयपदगा स्वीयां प्रजामादरात्,
तत्साधनमिन्मित्यनत्प जनता ता गोधनेनाश्चिताम् ।

स्वाङ्गगर्वेण यथा जनाना, स्त्रीत्वं कृता योग्यधियश्च जानाम् ।
द्विलस्था दिगम्बरे स्वरेत्-गर्वेण योषा प्लविना दिशाते ॥३॥

न जनमार्गे शिरसाधरापा, यणस्य वेत्रस्य विशेषपार्ता ।
अप्या क्षपण्यां क्षपयन्ति पर्ण-स्वगोऽपि मोहक्षपणे क्रमेण ॥४॥

भावो हि जीवस्य शिवाशिवाग, स्यात्तुलितो रोहुमर्म, न धाया ।
पञ्चेन्द्रियत्वप्रमुख तु साधन, स्यात्साधको भाव उदारूप ॥ ॥

यथा मुनीना प्रवह शिवाय, प्रवत्तमानो गृहिवर्गयुक्त ।
तथा श्रमण्योऽपि शिवाप्तिहेतो-रीक्ष्यन्त युक्ता स्वरसेनिशामि ॥६॥

यादृशा गृहिण्यः सकल तु कार्यं, गृहाश्रिता नित्यमुपाचरन्ति ।
उर्ध्वो च पाने च गृहाश्रिताना, जीवायनात्स्तुममूपदीना ॥७॥

यन्नीचकाराद्वहनेन पत्यु-स्तदव याचद्गुमाश्रयेद्गृहम् ।
शय्या न पत्युर्यदि नैव स्पृश्या, परः सहस्रा शरदो दिवि स्यात् ॥८॥

विना तात वार्ल भवति यनिता पालितु (रक्षितु) मल,
नियायान्येषा तु प्रवरधनिना पण्डनमुखान् ।
विना योषा धाळ भवति न हि रक्षणविधौ,
स्नियत्वाऊ जीवेदपरयनितारक्षितभर ॥९॥

अन स्त्रीणा प्रोक्त प्रनमतुलित स्वेतरनरे,
सदा धार्यं मक्षाऽपरपुरुषमीक्षेत न दृशा ।

यथार्थं श्राद्धत्व भवति भविना शास्त्रगदित,
जिन ज्ञानाद्यर्थोलत इह विधेया बहुमति ।
न निष्प्राणा भावो गुरुगुणसपर्यां विदधतो,
महादान नित्य भवति गदिता चिद्वतविरियम् ॥७८॥

पर्यामसौ नित्यमुदारबुद्ध्या–ऽहोरात्रिकीं श्राद्धगणोचिता धरेत् ।
न चेत्समेतो मुनिभावमन्त्ये, सलेखनामुत्तरसौख्यदामयेत् ॥७९॥

जैनोऽसौ वरधर्मकर्मकरणेऽनन्योपकारक्षम,
मत्वा श्राद्धवर तनोति नियत तस्य प्रभावप्रथाम् ।
सङ्घस्यापि चतुर्विधस्य नितरामाराधने स प्रभु ,
कर्ता कारयिता प्रशासनपरस्तुल्यात्रयोऽस्यार्हता ॥८०॥

इति एकोनत्रिंशोऽध्याय ।

---

। त्रिंशोऽध्याय । ( श्राद्धाधिकार )

जैनोऽसौ मनुते समस्तजिनपैमाक्ष वरेण्य पद,
यन्तु येऽसुभृतोऽर्हता निजगता सन्धारयन्तो मता ।
तेषां यो भणित सुकर्मकरणो वरा शुचिर्योपिता,
त नित्य शिवधामसाधनपर पूजास्पद भक्तित ॥१॥

श्रद्धाऽनघा शासनगा सदाऽस्या , श्राद्धीतिशब्दो न पराप्तसद्भाव् ।
बाला युवत्वोद्दिजराविनीर्णा , श्राद्धयास्तु वर्गो जिनपै प्रशस्त ॥२॥

स्तुतिस्तोत्रैः स्तौति प्रसितममलेऽह्नि तमतिनमे,
गुणानां सङ्ख्याते जनिमुनिशिवाप्त्यादिजनिते ।
गृहस्थानामेषोऽमितगुणकरो भावमतिगत
स्सरस्तेनाजस्रं नियमहिते स्तौति गृहभाग् ॥१८॥

प्रत्याख्याय निजात्मशक्तिनियतं प्रातस्त्यमादौ यमं,
सद्यत्राकृतमर्हतो गृहमितो यात्वा निशेत् सा निधे ।
कृत्वा चार्चनमर्हतां बहुविधैः पुष्पादिभिर्भोगम ,
प्रत्याख्याय च निर्गतो गुरुमुखाच्छास्त्रं शृणोतीष्टदम् ॥१९॥

आगत्याऽऽलयमाचरेद्विविधपरा धर्मान्नदानं मुदा,
यद्वा भोजनधारणं वितरतीशे साधवे दातरि ।
कुर्यात्पौषधपारणेऽपि यदिदं पम्पुल्यते दीपरज ,
जैनं शासनमेष नो भ्रमणगतो न्यायं कदापीष्यते ॥२०॥

धान्यं योऽम्बुविशोधने निलयगा सर्वत्र रक्षापरा,
कुर्यात्कार्यमपायपापरहितं प्रेत्यावतार ह्रदा ।
अग्रे कृत्य सुकृतदुष्कृतिफलं नो विस्मरेच्चित्तत ,
श्राद्धश्रेष्ठा द्वयमाप्नुत सुयकरं कीर्तिं परत्रामरम् ॥२१॥

तीर्थानां विविधाहदादिमहिमाद्यानां जनुपावनाद्,
यात्रा सत्कृतिसयुता भवतरी कार्याऽऽय सत्साधनीम् ।
सम्पत्ति सद्व्यारतत्परजनं चायस्य सिद्धौ फल,
ज्ञेय, षष्टभरार्जितोऽथनिचयो दाताऽन्यथा दुर्गतिम् ॥२२॥

धर्मं स्यात् प्रभुशासनोन्नतिकरं सत्यापितो जन्मना,
दानं चेन्निरघं विधाय विधिरन्छील धृतं निर्मलम् ।

स्त्रिया भूषा शील कुलमपकलङ्क च भवति,
सुशीला यत्रैतास्तत्र न्तिशीला स्त्रिय उमा ॥१०॥

यत्र शुद्ध शील भवति वनिता पत्युरुदित,
प्रतीते पात्र यद् धनकुलसुतादिमद इह ।
भवेत् स्वामी प्रेते भवति वनिता यशवहनी,
तत पाल्य शील चरितमुदित प्राक्तनमुदैत ॥११॥

भवाब्धिसन्तारणयानतुल्य, दान सुहत्येषु पर सुकृत्याम् ।
अन्य विभार महिला विदन्तु कथ न तासा भववाधिवार ॥१२॥

मध्याह्नकाल प्रवरो मुनीना, भिक्षाभ्रमस्यागमसम्मतत्वात ।
तदा च दानप्रसरो हि धर्मा, भवेद् गृहावृत्तितयाऽङ्गनानाम् ॥१३॥

त्रिसन्ध्य जिनार्चा विधातु समर्था, महेला यत कालसुनाधना सा ।
स्वर सन्दधात्यपदग्धो निषेध, महेलाऽस्ति योग्या श्रुतोस्त्या न
मिथ्या ॥१४॥

मुक्तेर्निषेध ललनागणस्य, दिगम्बरसश्रकुन्दारूपाम् ।
जिनेन्द्रपूजा न तु मुक्तिसाध्या, स्वरस्तु मूलप्रविणाशदश ॥१५॥

प्रभाते शय्याया पठति परमा पञ्चपदनतिं,
विमुञ्चन्ती निद्रा यदि च निजक स्यान्तुचिरपु ।
स्मरन्ती ता चित्ते यदि च तनुक स्यान्नहि शुचि,
ततश्चित्ते कुर्यात् कुलममलिन धर्मपरगम् ॥१६॥

चैत्य ततो गेहगत प्रविश्य, नैषेधिकीमुख्यविधि विधाय ।
कुर्याज्जिनेन्द्रार्चनमात्मलाभ – प्रयोतन पुष्पमुखै सुद्रव्यै ॥१७॥

मातुर्मजाता न यतुर्थयामी–ऽप्रमादभूम्न्वरण न तस्य ।
रागद्विषौ येस्त नगरमास्त–प्रमाङ्गनाना स गतापवाद ॥३०॥

इत्यस्ति शास्त्रे मिथुन श्रमण्या, द्रव्ये, न भावे भवतास्य सम्भव ।
इत्यस्कारस्य यदस्ति सम्या, सुसम्भवा नैव तथा सुपुंसु ॥३१॥

यत्र प्रयत्नात् स्वयमादरेण, वृद्धादिवर्गेन सुरक्षितव्यम् ।
शीलं स्वरसस्य वर हि जीवित, मत्वेति शील परिरक्षणीयम् ॥३२॥

अत कर्माणि सुकृत्यनाशे, यथा सम योषितमेति सन्ततम् ।
नाशे गृहस्थेतरजन्मनाशे, पुष्ट तथा नो कठिना जनेन ॥३३॥

यथा हि शस्यस्य धरानुमक्ति–स्तथा न रुष्यन्दमसीरणानाम् ।
अनुत्रिनिम्नदरिद्राङ्गनाना, सत्कारवृत्ति सकले स्वदेशे ॥३४॥

शरीरजस्य रुधिरानुमतृ–स्तत्र च नार्यागवसेन मूलात् ।
मातृप्रभूत तनुतस्त्ववत्ता, परीक्षते धर्ममिदा विवाद ॥३५॥

यस्मान्माता प्रसूते शिशुमतपपद तेन सा गीतिमाप्ता,
सपुत्रादीन् जगत्या प्रचुरगुणगणे नार्गिमातेति काव्ये ।
शास्त्रे रत्नप्रदीपप्रवितरणकरा रत्नकुक्षिर्नमस्या–
ऽऽख्या सा सकलोके त्रिभुवनपतिभिर्गीयते सोक्ता ॥३६॥

स्याद्वो जिनेन्द्राऽऽगम एव शब्द , क्रिया च यद्वत्पुरुषेऽपि तद्वत् ।
जिनेन्द्रवाक्यादिपु सुष्ठु दया–दनुप्रियेति प्रयुतो न भिन्न ॥३७॥

यद्वदपि सम्योगमेतदेव, श्राद्धी तथा श्राद्धगणो मिथस्तु ।
इत्यन्वपूर्वे हि पद वदन्त नार्या न तस्मात् क्वचिदप्यधरत्वम् ॥३८॥

धूर्वोपार्जितपापपङ्क्तिविलयेऽसाधारण कारण
तप्त दुष्करमुद्धृतिकरतपो भार च भव्या धरेत् ॥२३॥

या श्रद्धाभरसयुता, जनगणो या सस्तुते शील्त ,
यशो द्वौ विशदीकृतौ सुकृतिन सज्जन्मवत्या यया ।
यस्यै धमपर सदा नतिपरो, यस्या गुणाना व्रज ,
सङ्घे सञ्चरते मतिश्च तरुणा जायेत यस्या यश ॥२४॥

नारी यद्यपि निन्दिता श्रुतधरैर्वाक्यप्रथ थोद्धरै ,
स्थाने स्थान उपोढस मतिभरै सा नैव जातिद्विपा ।
निन्द्यते पुरुपप्रधानमतम सश्रित्य वाक्यव्रत,
स्त्रीराशिश्च निरूपणे पुरुपगा सैवादृता पौरुषे ॥२५॥

स्याद्वादो जिनराडमतेऽप्रतिहते दोषैर्गुणै सश्रिते,
सोऽनेकान्तनिरूपणेन सफल सर्वागपेक्षा दधत् ।
नात्यन्ताश्रयता स्त्रियामघतते सम्पत्तु सम्पद्गते-
र्हानो दोषगणेन श्रद्धिवरको नैवेति नो म यते ॥२६॥

साधून् यथोद्दिश्य जिनेन्द्रमार्ग, दोषा श्रमण्या प्रतिपादिता बुधै ,
त एव साध्वीम्र पसङ्गहे स्यु , निमन्थवर्यानपि सश्रिता हि ॥२७॥
काम स्त्रिया यद्गुणितश्चतुर्भि-नरात्तदतत्पृथगस्त्यपेक्षया ।
ज्योतिस्तृणानां झटिति प्रजायते, निर्गाति चेत्थ न च कुम्फुमेषु
( कारीषेषु ) ॥२८॥

स्फुलिङ्गसयोजनतस्तृणानि, ज्वलन्ति घट्टादियुतास्ततोऽपरः ।
शाम्येच्च ताणों द्रुतमेव ना य, इति प्रबोधात् स्मरकारण त्यजेत् ॥२९॥

इत्ता कुले यत्र स्वसा च पुत्री, धर्मोऽपि तत्रत्य उपागमनीय ।
तत्र सदाचारभवोन्तराणा, स्थार्थिनी ता न परत्र दद्यात् ॥४८॥

अत्रत्यनैतत्य उपागते स्या-द्वयर्थहिकी धर्महतऽन्यभाविकी ।
आद्याऽन्यमात् परथा परा तु, निस्त्येदमन्यर्थितये न दद्यात् ॥४९॥

यथानुराग आत्मन प्रम्वान्ततोऽधिकोऽस्या त्रिपुत्रग ।
मित्रे तु धर्मऽधमस्य सश्रयो, नीचैस्तरा वृत्तिर्गोधमोहिनी ॥५०॥

सिद्धाद्रिप्रमुखप्रशान्तगिरिषु प्राप्ता परा कोटय-
स्त्वनेऽपि न याति सम्भवपन्न येषा न श्रद्धाऽनघा ।
मोक्ष किञ्चिदमात्मवशसहना सत्कारवार्तामति-
यषा ते गुरुता विधाय सुमतिं तीर्थानि तानि स्मरत् ॥५१॥

आद्या सिद्धा समग्रे भवभवविगमावाप्तमोक्षालये या,
साम्प्रता जैनमार्गेऽप्रसपितिसुपमदुष्पमाया जिनाम्वा ।

नैवाऽऽसीत्तत्र तीर्थं जिनगुणमहिमोल्लासितात्मप्रभावान्,
मन्त्रैव स्यात्मशुद्ध्यै जिनपतिरचनाच्छ्रावकाणा प्रयत्न ॥५२॥

वग श्राद्धया प्रणम्योऽविचलसुमतिर्धर्मकार्ये सदोत्को,
दत्तानामार्यचाल्यो बहुतरविधिभि सयमादाप्ततत्त्व ।
तत्रास्ति ज्ञातमग्न्य चरमजिनपते नागमार्यो प्रवेका,
सम्यक्त्वे दैवतुल्ये जिनवरशिवगे शुद्धमत्याऽप्रदृष्टि ॥५३॥

समसो नगर्यां जनो भ्रान्तिमाप्त,, यदाऽसज्जिनेशस्यागम कर्तुमिष्ट ।
स प्राग्ड प्राप्तजनाचनादि, न मुग्धा सुसम्यक्त्वधरा न याता ॥५४॥

सर्वाङ्गिनी कोऽपि करोति भव्य , समस्तसङ्घे परमादरेण ।
सवत्र कुर्वन् प्रणम द्विधा क्रिया, विशेषहीन सधवाधनायाम् ॥३९॥

श्राद्धीत स्याद्वमक्षेत्रेऽमलत्व, कुर्यान्नितोद्वाहकालेऽपि पूजाम् ।
धार्म्यो महिमाऽनून एपोऽपि ताहक, पापारम्भे साधयेद्धर्ममादौ ॥४०॥

मतिर्या भवान्ते गति साऽपरत्रा, याण्यत्र प्रेत्यास्ति समानलेश्या ।
न्यवे भवे चेति विबुध्य सर्वा–नार्त्तान् सुनिर्मापयितु यतेत ॥४१॥

आराधना निर्मलभावपूर्णा, चतु शरण्या शुभपापकर्मणो ।
प्रशसया निन्दनया च भावात्, स्वान्यातुरत्वे हि करोति वर्याम् ॥४२॥

यथा परं प्रेत्य सुरालयाना, मुक्तेश्च गीत परिदायकत्वात् ।
महेश्वर सनजनोपकारी, मिथ्येयमाराधनकारिका तथा ॥४३॥

यान्ति प्रशान्ता प्रभुभक्तिवाणी–प्रणोदिता स्वर्गपद शिव वा ।
तत्कारिका किं नहि कारिका हि दुग्धाम्भ किं प्रक्षणसपिरास्ति ॥४४॥

कुर्वन्ति वैवाहिकमत्र पुत्र–पौत्र्यादिकस्य नियताधव ।
तथापि तच्चण्डक्षतिनिवृत्त्यै, नीतौ स्थिता स्वर्गशिवाप्तियोग्या ॥४५॥

तथानिधानीति पराभवेयु , सत्कम कतु शिवमागमेतुम् ।
अत स्वकीय कुलवशयुग्म, पुरा हि रक्ष्य सुधियेति गीतम् ॥४६॥

यथाऽऽर्यदेश सुजनोपकारश्च , सङ्ग विधायाहतसाधुचैत्यै ।
चत कुल वा मतिभावतलपि, विधाय ते सङ्गसिद्धोपकारी ॥४७॥

सर्वोऽप्यसौ सम्मदा प्रभुभिर्नाम्ना,
मूर्त्तं तु तस्य मत आदतिशयविचारया ॥६२॥

भवन प्रतिष्ठा जिनबिम्बराज्या , प्रभुस्वभाव गदिय निर्दोषपथ्य।
सर्वोऽनुभाति न पूज्यनापर, श्राद्धस्य पुरोऽस्य(त) निगायसो
धर ॥६३॥

चैत्य च यत्रापि निराहताना, पट प्रतिष्ठापनमाद्रियेत ।
तत्रापि तानामधिकारभावो, विशेषतश्चास्ति जिनागम विधौ ॥६४॥

स सद्गता अत्र विमानतायिधौ, समाद्रिय न त च ता अनीयु ।
द्रव्याणि निर्मोयभयानि कान्यपि, यावद्भव शान्तिमुपागुरेयु ॥६५॥

दर्शनीनि सत्कारलेश , शरीरशोभायहयो यतेपि ।
तत्सत्कर्मस्य निषधनात् पर, तीर्थंकरो किन्तु न सेवनीय ॥६६॥

तत्र कर्मोपरमाय हृत्य, समारदेशोऽरपतिनिरगाय ।
तत्र धर्मोपविश्वायहतो-स्वाभवास्य हि परिचया दन् ॥६७॥

जिनाभिराना मन्दिराणि यानि, दिनानि कल्याणकराङ्कितानि ।
स्नातनामादि-रथोत्सवैश्च, श्राद्धैर्जन शोभयनऽङ्गनीरै ॥६८॥

कल्याणकेषु प्रवदन पूजा, श्राद्धीजनो वाऽपर आदृत सन् ।
जिनेश्वराणमभिधाय धर्म-ग्रन्थेषु कृपया भवन्तुतार ॥६९॥

चत्वार उक्ताः श्रमणप्रधान, सङ्घ विभागा परमागमी ।
कार्येषु धमश्वरपु सग , श्राद्धस्य यतो मूरिवगा सुपात्रा ॥७ ॥

गृहेषु धर्मीय उद्धारमाय , प्रवर्तते तत्कृत व्यय भूरि ।
समानि कार्याणि तदुपमता, धर्म हि चैत्यभर आदरेण ॥७१॥

जम्बूस्वामिन आत्तसुन्दरवरा प्रेयस्य आत्मादरा,
अद्यापि प्रवरा व्यधु समगता तत्तुल्यष्टसोद्यता ।
यातेऽस्मिन् मुनिता व्यय गतमदाश्चन्मुनित्व पर,
जाता सयतमागसाधनपरा श्रीचन्दनाया पुर ॥५५॥

श्रीवज्रप्रसवित्रुसयमकथा लोकात्ततश्चागता,
श्रुत्वा श्रीधनगिर्युदारचरिता वज्रे सुनन्दा वरम् ।
जात वज्रप्रसु दन्नौ स्वतुर षण्मासमात्र शिशु,
ता को न स्तविता विनागमरुचि श्राद्धीं पर पावनीम् ॥५६॥

श्रीहेमचन्द्र प्रभुमार्पिपद् या, श्रीदेवचन्द्राय मुनीश्वराय ।
भक्तु सुहृत्य परम विदन्ती, श्राद्धया अहो वा स्वमतीत आदर ॥५७॥

श्री वस्तुपालाग्रजतेजपाल, प्राप्त निधान स्वनितु निचितम् ।
दृश्य जनेश्चौयकृतात्तदेहं धेय तथेत्युक्तमलोभपन्त्या ॥५ ॥

श्राद्धी सुभद्रा जिनमार्गमोदा, जलेन द्वारत्रितयीं पुरस्य ।
सतीत्वभावस्य महाप्रभाव, जनेषु जनयन् पुनरुद्घटित्री ॥५९॥

राज्ञा सुशीलो महिपीप्रदत्ता-व्याख्यानयुक्तो हननाय युक्त ।
सुदर्शनो रक्षित आर्यधूत्वा, श्राद्धया स्वकीयाचलधमभाजान् ॥६०॥

श्रीरेवती नाम जिनस्य बद्ध्वा, भावी जिनो तीर्थपदानशक्ते ।
निर्णीय को न स्तविता जिनानु-यायी वश श्राद्धपथो मुखा खिम् ॥६१॥

शाह्नी अक वरमुदारमतिं दयाया,
लीन न वेत्ति जिनशासनतत्त्ववदी ।

मराऽप्यसौ समभवत् प्रभुवीरनाम्ना,
मूल तु तस्य तप आदतिश्चम्पिकाया ॥६२॥

भवन प्रतिष्ठा जिनबिम्बराज्या , प्रभुत्वभाव यदिय निर्दीपयेत ।
सर्वाङ्गशुधापि न पूज्यतापन्, श्राद्धया युतोऽस्या(न) विधायको
धव ॥६३॥

चैत्ये च यत्रापि जिनार्हतीना, पदे प्रतिष्ठापनमाद्रियेत ।
तत्रापि तासामधिकारभावो, विशेषतश्चात्र निगमनाविधौ ॥६४॥

गा सदूयता अत्र निमाननाविधौ, समाद्रियन्त न च ता अतीयु ।
दुःखानि दौर्भाग्यभवानि यान्यपि, यावद्भव शान्तिसुखान्युपेयु ॥६५॥

यथायतीश सत्कारलेश , शरीरशोभानहको न्यपधि ।
तत्सत्कर्योपस्य निषेधनात् पर, तीर्थाश्रितो किन्तु स सेवनीय ॥६६॥

यद्य धर्माधरणाय कृत्य, समारहेतोरघनिनराय ।
तद्व धमाश्रलिरायहेतो-यदाचरतो हि परिश्रवा यत् ॥६७॥

जिनाधिपाना रुचिराणि यानि, दिनानि कल्याणवराङ्किताानि ।
अकाशनामारि-रथोत्सवैश्च, श्राद्धीजन शोभयतेऽर्चनैरे ॥६८॥

कल्याणकेषु प्रवरा न पूजा, श्राद्धीजनो वाऽपर आहृत सन् ।
जिन वराणामभिधाय धत्ते-ष्वन्येषु कुर्वन भवत्युदार ॥६९॥

चत्वार उक्ता श्रमणप्रधाने, सङ्घे विभागा परमप्रगामी ।
कार्येषु धर्मप्रवरेषु वग , श्राद्धयो यतो भूरितमा सुयत्ना ॥७०॥

गहेषु धर्मीय उदारभार , प्रवर्तते तत्कृत एव भूरि ।
समानि कार्याणि तदुत्थमत्या, धर्म हि जैनेश्वर आदरेण ॥७१॥

जम्बूस्वामिन आप्तसुन्दरवरा प्रेयस्य आप्तादरा,
अष्टापि प्रवरा वधु समगता तत्तत्यक्तत्योद्यता ।
यातेऽस्मिन् मुनिता स्वय गतमदाश्चक्रमुनित्व पर,
जाता सयतमार्गसाधनपरा श्रीचन्दनाया पुर ॥५५॥

श्रीवज्रप्रसवितृसयमकथा लोकात्तनक्षागता,
श्रुत्वा श्रीधनगिर्युदारचरिता वध्रे सुनन्दा वरम् ।
जात वज्रप्रभु ददौ लघुतर षण्मासमात्र शिशु,
ता को न स्तविता जिनागमरुचि श्राद्धीं पर पावनीम् ॥५६॥

श्रीहेमचन्द्र प्रभुमार्पिपद् या, श्रीदेवचन्द्राय मुनीश्वराय ।
मत्तु सुम्त्य परम विदन्ती, श्राद्धया अहो वा स्वमतीत आदर ॥५७॥

श्री वस्तुपालाभनतेजपाल, प्राप्त निधान खनितु विचित्तम् ।
रक्ष्य ज औचित्यवृत्तानवह धेय तथेत्युक्तमलोभपल्या ॥५ ॥

श्राद्धी सुभद्रा जिनमार्गमोदा, जलेन द्वारत्रितयीं पुरस्य ।
सतीत्वभास्य महाप्रभाव, जनेषु जनयन् पुनरुद्घटिनी ॥५९॥

राज्ञा सुशीलो महिषीप्रदत्ता-ख्याख्यानयुक्तो हननाय युक्त ।
सुदर्शनो रक्षित आर्यधृत्या, श्राद्धया स्वकीयावलधर्मभावात् ॥६०॥

श्रीरेवती नाम जिनस्य दत्वा, भावी जिनो तीर्थपदानशक्ते ।
निर्णीय को न स्तविता जिनानु-यायी वरा श्राद्धपथो सुरवा क्षिम् ॥६१॥

शाही अकब्बरमुदारमर्ति दयाया,
लीन न वेत्ति जिनशासनतत्त्ववेदी ।

यथा महासानुतलाद्वहन्त्या , सुनाहिनीश्रातसमाम्घत्या ।
चिन्तामणिर्नोपल्वृन्दतुल्य ,          पुनातु०     ॥ ॥

परोपकारस्मरणैरचेता, निरुद्धय कश्चिज्जिनकर्म जीव ।
गतोऽन्यत्र भानि धराणि तानि,          पुनातु०     ॥६॥

नष्टे तु तस्मिन्नपतीर्थपत्वे, भवेज्जनाना प्रवरा गतिर्नो ।
धान्ता सुधा नैव गुणाय लेशात्,          पुनातु०     ॥७॥

पर तथाभव्यभव जिनत्व, वर न यद्ध धमतीह कश्चित् ।
पयो ददाना सुरभिन चाभा,          पुनातु०     ॥८॥

निलेद्रनामार्जिनम यथा वा, निशाम्यतेऽन्त्ये भवने तृतीये ।
अर्हन्द्विशाप्तादिपदपु भक्त्या,          पुनातु०     ॥९॥

जिनत्वनाम्न्येनमुपार्जितेहि, तिर्यक् पद नैव यदापि गच्छेत् ।
परायकामी न भवेद्धि तिर्यङ्,          पुनातु०     ॥१०॥

यथाऽऽमिष्यघपभोगभाव, रत्न न धार्येत्सलगाकरे स्यात् ।
नोत्पद्यते भाविजिनोऽसुरान्पु,          पुनातु०     ॥११॥

स्वप्नप्रलम्भो न मनोऽनुसारी, यस्यागमे कुक्षितले सवित्री ।
पश्यन्त्यदय चतुरन्वितान् दश,          पुनातु०     ॥१२॥

हस्त्यादिका नानुगविदरीणा, सप्तस्वपीठेपु भवेत प्रलम्भे ।
गजादिका ह्यत्र गति प्रधाना,          पुनातु०     ॥१३॥

जन्मक्षणे गमशतानलीढ, चकार मेरौ नियताभिषेचनम् ।
पडयुक्पञ्चाशदपि सुमाय ,          पुनातु०     ॥१४॥

श्राद्धयश्च देव्यश्च न विमुन्यपत्र-स्तथापि साम्येन नयन्ति सर्वान्।
श्राद्धांश्च देवांश्च जिनोक्तधर्मे, सय दृढा कुर्वते धमरक्तान् ॥७२॥

यथा परेषामधिकारिता नहि, गृहे च धर्मे व्रतमुत्ययनेऽपि।
तथा न जैनेष्विति सम्धमऽस्यासा समो हेतमतोऽधिकार ॥७३॥

नासा धर्मा यदानालादिरुद्धो, यद्धर्माऽत्राराधनीय स्वभावा।
आमार्थं तद्धारयन्त्या नितान्त, गीता तीर्थ्यैं निन्दयित्वा न्वनर्ह्रो ॥७४॥

नैन स स्यान्मातृवर्गेण तुल्या, सर्वा श्राद्धीर्मानयित्वा महेद्य।
मोक्षार्हाया समश्रेण्या विभेद, चित्ते नैव सन्दधीताचलेश ॥७५॥

इति त्रिंशोऽध्याय।

---

। एकत्रिंशोऽध्याय। (देवाधिकार)

जैन स एकार्हतधमधारी, यको भवाम्भोरवनोऽहताऽभूत्।
नास्त्यन्यधमप्रवणो जनेऽस्मिन्, पुनातु देवो भविनो जिनोऽर्हन् ॥१॥

कालादनादेर्निजभव्यताया स्वरूपमन्यासदृश दधान।
यथाऽऽम्रवृक्ष स्वकजातिबीजात्, पुनातु० ॥२॥

भवस्थल्पे भवनाल्पकाले, जहौ न तास्म्वरमात्मसत्ताम्।
मलीमस स्वर्णमयो विभिन्न, पुनातु० ॥३॥

तथा स्वा कालविवर्तसङ्ख्या-स्तीन भवाम्भौ परिवर्तमान।
तुल्य परै कारभवानतुल्य, पुनातु० ॥४॥

यथा महासानुनलाद्वहन्त्या, सुरादिनीश्रोतसमादधत्या।
चिन्तामणिर्नोपरतृप्तितुल्य, पुनातु० ॥ ॥

परोपकारप्रगर्णकचेता, निरुद्ध्य कश्चिज्जिनकर्म जीव।
गतोऽन्यजन्मानि धराणि तानि, पुनातु० ॥६॥

नष्टे तु तस्मिन्नपतीथपत्वे, भवेज्जनाना प्रवरा गतिर्नो।
धान्ता सुधा नैव गुणाय लेशात, पुनातु० ॥७॥

पर तथाभव्यभव जिनत्व, वर न यद्ध वमताद् कश्चित।
पयो ददाना सुरभिन चाभा, पुनातु० ॥८॥

जिनेन्द्रनामार्जितमन्यया या, निरान्यतेऽन्त्ये भवन तृतीये।
अहच्छिनाप्तादिपदेषु भक्त्या, पुनातु० ॥९॥

जिनेन्द्रनाम्न्यैवमुपार्जितेहि, तिर्यक् पद नैव कदापि गच्छेत्।
परार्थगामी न भवेद्धि तिर्यक्, पुनातु० ॥१०॥

यथाऽऽगमिष्यत्नृपभोगभाव, रत्न न याधस्खलगाकरे स्यात्।
नोत्पद्यते भाविजिनोऽसुरादिषु, पुनातु० ॥११॥

स्वप्नप्रलम्भो न मनोऽनुसारी, यस्यागमे कुक्षितले सवित्री।
पश्यत्यथन्य चतुरन्वितान् दश, पुनातु० ॥१२॥

इत्यादिका नानुगतिर्विहरीणा, सप्तस्वपीठेषु भवेत् प्रलम्भे।
गजादिका यत्र गति प्रधाना, पुनातु० ॥१३॥

जन्मक्षणे शक्रशतानलीढ, चकार मेरौ नियतामिषेचनम्।
पड्युक्तपञ्चाशदपि क्षुमार्यं, पुनातु० ॥१४॥

यस्याम्बिकाकुक्षिरपेतपङ्का, जम्भाल्मुराऽप्सटोद्भवाद्वा ।
सुरासुरश्रेणिशतेन यन्मा, पुनातु० ॥१५॥

जन्माभिषेकेऽप्यमराचलेऽग्रु , सुरासुराधीश्वरकोटयो मुदा ।
अष्टप्रकाराचनमावि(द)धातु, पुनातु० ॥१६॥

बाल्ये न मातुर्विदधाति मान, स्तन्ये सुराधीशशतेन नीताम् ।
सुधामपाङ्गुष्ठगा सुनाद्य , पुनातु० ॥१७॥

चकार चेष्टा लघुदीधनीत्यो–रुरोद बाल्ये न महेश्वरोऽयम् ।
धशे महेन्द्रे कृतराज्यवृद्धौ, पुनातु० ॥१८॥

परैर्न येषामवकल्प्यता स्याद–तिशयांस्त्रिशतमाश्रिता समम् ।
चतुर्भिरार्हन्त्यपदोदितास्ते, पुनातु० ॥१९॥

प्रेमाय विश्वस्य विधाय दीक्षा, जित्वोपसर्गांश्च परिषहांश्च ।
निर्मूल्य घातीन्यखिलानि सर्वविद्, पुनातु० ॥२०॥

प्राग्बद्धतीर्थंकरनामकर्मणो, द्विधोदयोऽर्चाभ्रमणादिसिद्धया ।
द्वितीयमाद्यपदेन देशना, पुनातु० ॥२१॥

यदीक्षितानां भवतीह याव–त्तीर्थे प्रवाहो न नरोऽपर विना ।
भाग्यात्तु भ यत्वयुतात् स एव, पुनातु० ॥२२॥

तीर्थं द्विधाऽगारपराश्रित दिशन, धार्यण शुक्ल शुचितारणेन ।
जना प्रभूता क्रमसिद्धिसाधना , पुनातु० ॥२३॥

वर्गद्वयेऽपीष्टपथानुसार–स्तत्र साधून् गृहधारकांश्च ।
नुनोद धर्मार्थमरक्तदोष , पुनातु० ॥२४॥

बुद्ध्वा भवोदधिगता त्रिविधा व्यथास्ता,
जन्मान्तराऽऽधिरितिविधामयनाल्जाता ।
ज्ञात्वा तद्‌न्तकरण मुनिमार्गमेक, सेव्या ० ॥३॥

पोतो यथा परतट नयतीद्धभाण्ड,
निर्यामकेण मतिसाधनसयुतेन ।
धर्मं वरा मनिजनोद्धरणैकलक्ष्या , सेव्या ॥४॥

लोक प्रदीप्तमखिल जननानलेन,
मृत्यास्त्नौ श्रममत्याश्च विबुध्य मत्या ।
शान्त्यै निर्नैगदित परधममादु , सेव्या ० ॥५॥

मातापिता सूनुरपारमोहा, अर्थं समस्त वृजिनौघलातम् ।
गृह्णन्ति न प्रेत्य फल विदन्तो, सेव्या ० ॥६॥

सर्व जना ऐहिकसौख्यदु ख-समागमाना प्रचयात् प्रमीना ।
नावीतमाश्रिभ्य इमे तु तेभ्य , सेव्या ० ॥७॥

अर्था सत्त जनकुलागतनीतिरीत्या,
रक्ष्या भवन्ति गृहिणो न च जानते ते ।
दौगत्यपातिन इमे मुनिभिर्निसृष्टा , सेव्या ० ॥८॥

सर्वार्थसाधनमिद वपुरक्षय नो,
यत्त्वेति नाश बहुकारणान्वितम् ।
विस्त्वा सुमयमकृते परिरक्षयन्ति, सेव्या ० ॥९॥

मन्वाह तत प्रथमतो महिमानमुम,
धमम्य भागफलयुग्ममिहानगार ।
सामान्यत परिचरे(द्) भ्रमरोपमान , सेव्या ० ॥१०॥

न स्त्री न चास्त्र न च वाहनानि, न स्वगदानादिपृथाप्रचारः ।
कल्याणदा किन्तु शिवाप्तसिद्धि, पुनातु० ॥३३॥

गतो न गन्ता न च गच्छतीश, परां गतिं सिद्धिविनाऽहता य ।
भवान्तादूरगतो जिनात्त, पुनातु० ॥३४॥

न यस्य तृष्णा न च रागरोषौ, नाज्ञानलेश परमात्मताभृत् ।
न तीर्थनाशाऽवनरद्धलक्ष, (अर्हन्) पुनातु० ॥३५॥

जैनं स एवात्यटन भवाब्धौ, न वाञ्छति प्रेप्सति सिद्धिमार्गम् ।
जन्मान्तरेभ्यो भयभृन्छिवेप्सु, पुनातु० ॥३६॥

इति एकत्रिंशोऽध्यायः ।

---

। द्वात्रिंशोऽध्याय । ( साध्वधिकार )

जैनं स एव मनुते मुनिराजपादान्,
ससारसागरतटप्लवने सुपोतान् ।
दारैधनैश्च रहितान् धृतधर्मयोगान्,
सेव्या सदाऽऽदरभरेण सुसाधुवर्या ॥१॥

ज्ञात्वा जिनेन्द्रवचनादिह वा मुनीशान्,
( शुक्लस्ते ) स्मृत्वा च पूर्वजनुषं भवभावभीरु ।
पद्मार्यादिगणभरान् प्रचुरापदन्तून् (शिवमार्गलीना) सेव्या० ॥२॥

सत्र पूया भ्रमणा सनस्त्री–धर्मप्रचारो मुनिसङ्गमोत्थ ।
रूपोऽत्र आभादिषु सयतानऽगुरु, स्तुत्या० ॥२०॥

यज्ञद्धि तीर्थ जिनराजगीत, वर्तेत यावन्मुनिराजसङ्गमः ।
अतो मयूरोपमिता गृहस्था, स्तुत्या० ॥२१॥

धर्मो मुनिभ्य प्रददे जिनेशै, परप्रदानाय समासमक्षम् ।
ताय धरन्तो मुनयोऽदुरेन, स्तुत्या० ॥२२॥

न किञ्चनास्तीह मुनीश्वराणा, विहाय दृष्टयादिगुणान् जगत्याम् ।
दुःखस्य मूल पर इत्यमीऽज्झन्, स्तुत्या० ॥२३॥

योग्येषु देशेषु परिभ्रमन्त, श्राद्धोपदेशेन नवानि कुर्यु ।
चैत्यानि जीर्णानि समुद्धरेयु, सेव्या० ॥२४॥

तीर्थानि पूर्वर्षिमहाप्रभाव–विद्योतकान्याजमहत्त्ववन्ति ।
प्रभावयन्तश्च समुद्धरन्त, सेव्या० ॥२५॥

पवित्रहाया विजने वनान्तरे, मान्वप्रमागे सरितस्तटे वा ।
निराकुल पण्डितवीर्ययन्त, सेव्या० ॥२६॥

प्रसङ्गमादत्य समस्वभावा, मित्रे रिपौ जीवन आत्मनोऽन्ते ।
मुनिर्हि येषा क्षणकालभूता, सेव्या० ॥२७॥

गुरूपदेशाद् भवितव्यताया, प्रभावत स्वीयसमुद्यमाच्च ।
अन्तेऽपि मार्ग शिवगा भविष्या, सेव्या० ॥२८॥

नानानिरमधुकरै समताऽत्र युते,
गामण्यमुक्तिसहिता सुगुणावलीष्टा ।
बोधेन युक्त उदयप्फुरतो मुनीश , सेव्या० ॥११॥

प्राणा परै स्व परिरक्षणीया, मता न तत्रास्ति दयाप्रचार ।
प्राग स्वकीयैरपि जीवरक्षा , सेव्या० ॥१२॥

सत्य परेषा परम हि तत्त्व, दयाह्विता जैनमते तु तत्त्वम् ।
स्वजीवनाश परहानिमुक्त्यै ( गुरु ), सेव्या० ॥१३॥

सत्य व्यलीकमुदित लपनादिहेतौ,
रागो द्विषा चात्र पराधवीनम् ।
त्यनेदलीक भवभूतसुरक्ष, सेव्या० ॥१४॥

त्रिधा यथोत्पादमलीकमुक्त्वा, नादत्तमत्र ग्रहणे मनन्ति ।
इमे पराक्ये तृणमात्र आशा, सेव्या० ॥१५॥

परे नियोग विधिमागमाहु–रिमे त्रिधाऽब्रह्म परित्यजन्ति ।
तरश्च–मानुष्य–सुराङ्गजात, सेव्या० ॥१६॥

स्वीय ग्रह पापमय परेऽगु–रिमे कृत कारितमादृत पुन ।
स्वन्तेन वर्ज्यं न परिग्रहत्व ( स्तुत्या ), सेव्या० ॥१७॥

महाव्रताना परिपूर्णतायै, स्वाध्यायशान्त्यो परिरक्षणाय ।
त्यजन्ति दोषाकरस धभोग, स्तुत्या० ॥१८॥

गौद्दताग्रमवन सुदुष्कर, क्षणे क्षणेऽन्ये यत आत्मभावा ।
मरवति निस्सङ्गतया व्यदार्षु , स्तुत्या० ॥१९॥

। त्रयस्त्रिंशोऽध्याय । (धर्माधिकार)

नन स एव मनुते जगदेकसार, हेतुस्वरूपसुविशुद्धमुदाररूपम् ।
सावद्यलाञ्छितजिनैरदित सुधम,
धर्मो निनोदिततया भविना शरण्य　॥१॥
सर्वेषु धम उदित परमार्थसारो,
दौर्गत्यवारणसह सुगते प्रदाता ।
तार्थ्यै समस्तत इय प्रतिव प्रसिद्धि-　धर्मो०　॥२॥
सामान्यमेनमिह नैव निलोक्यते हि-
स्तस्य स्वरूपममलाश्रयशुद्धिसिद्धम् ।
तत्त्वापि मन्त्रलतया जगुरस्य सङ्ख्या,　धर्म०　॥३॥
शब्देन नैव न च सन्मनसाऽस्य जन्म,
किन्त्वस्य भेदधरणात् त्रय एव भेदा ।
तत्स्यतासुपगते न हि धर्मतत्त्व,　धमा०　॥४॥
स्वप्राणनाशसमयेऽपि न पर विहिंस्याद्,
यत्नश्च सर्वभविनामवनाय नित्यम् ।
श्राम्यद्दुष्टदुरितोपशान्ति,　धमा०　॥५॥
देवा प्रमाणमिति धमधरान्नमन्ति,
तेऽन्तोऽभ्युपेयममल श्रुतनाम्प्रणीतम् ।
मिथ्यात्वसङ्गतिमियेदससाध्यमुक्त,　धर्मा०　॥६॥
शाप सममुदित द्रुमपत्रकीय, सिद्ध ततोऽधिकरण त्रितयप्रसिद्ध्यै ।
धमस्य धृतमनगारपदोपशोभ,　धर्मा०　॥७॥

आत्मानमात्मप्रतिनिद्धरूप, जानन्त आत्मन्यतिरिक्तमिश्रा ।
कायादि स्थानमपाहरन्त, सेव्या० ॥२९॥

ये निजरूप प्रवर विदन्त–श्चैतन्यसौख्यैक्मय जिनोक्ते ।
अधिष्ठिता स्व निजरूपहेतो, सेव्या० ॥३०॥

ये पौद्गले नव सुखे निमग्ना, न द्वेषिण पूर्णनिजस्वरूपा ।
निरुध्य योगान् विगताघबन्धा, सेव्या० ॥३१॥

पर न ताभ्या निजसेवकान् सन्, तत्रशभावप्रभव निदश्य ।
दु ख विषण्णा भवभावमेते, सेव्या० ॥३२॥

पूजा परीवारकृते न दीक्षा, सम्यक्त्वचारित्रविदादिरूपाम ।
स्वनुभूमिष्ये भवमन्थनाय, सेव्या० ॥३३॥

सुखस्थमात्ता य इमे परेभ्य–स्त्यजन्ति तानगुरुवासमादीन् ।
विमुच्य बोधादिमय तु जीव, सेव्या० ॥३४॥

न वाहन प्राप्तपुरस्य साम्य, नौरो समुद्रस्य तट गतानाम् ।
मत्वेति हात्वाऽपरमात्मलीना, सेव्या० ॥३५॥

जैन स स्यात्सिलतत्त्ववेत्ता, मार्गं मुनीना दृढभक्तिभाव ।
सदा धरँस्तेषु गत शरण्य, सेव्या० ॥३६॥

इति द्वात्रिंशोऽध्याय ।

इष्टस्य सिद्धिरविकैर्मतिसाधनार्थै-
नास्त्यन्तरेण विदुषामपि तान् कदाचित् ।
धर्मस्य सिद्धिरमला भवितव्यताया, धर्मो० ॥१५॥

पुण्याग्निमि प्रभवमेति नरत्नमुख्य,
कालस्तु मुख्यपदमत्यनियतभावे ।
कार्यं ह्यपूर्वमुपयाति शुभायतिर्नो, धर्मो० ॥१६॥

कर्माणि यानि विविधानि गताग्निकालात्,
तेषां शमेन नियमं शुभधर्मलाभे ।
जीवस्तनोति शममेतुमुदारवीय, धर्मो० ॥१७॥

जीव क्रमेण शिवमागविधानसिद्धौ,
यत्न तनोति दुरितानि तथाऽपयान्ति ।
हेतुर्हि कर्मविलयोऽङ्गिनिकाशसाध्यो, धर्मो० ॥१८॥

पातोऽपि सम्भनिपद न तथापि यत्नो
जीवेन सृष्ट उपयाति न निष्फलत्वम् ।
अन्तो भवस्य नियत शुभधर्मभाजा, धर्मो० ॥१९॥

पञ्चेन्द्रियत्व-नरजातिमुखा समग्रा,
लब्ध्वा सुसाधनततिं नर गति मोक्षम् ।
साध्य तु बोध-दृशि-सच्चरणाभिमत्वं, धर्मो० ॥२०॥

सम्यक्त्वमाप्यत इहाङ्गिकृतात् सुयत्ना-
च्छात्र मत च भवितव्यतया न किञ्चिन् ।
कमादयो निगदिता सफला जिनेन, धर्मो० ॥२१॥

निर्दोषधर्मगपनाधपदोदयाय,
प्रोन्नाऽसमर्थननतापरिसाधनाय ।
तस्येत्यगारसहिताय लघुमतानि, धर्मा०

शस्तेतराप्तिनिधया महता प्रयत्न,
सर्वेभ्य उत्तमतमा हितकायरक्षा,
लघ्यो गुणाय मुनिताऽभ्यसनाय कृत्या, धर्मा०

मुख्या निवृत्तिरुदिता यतिधर्मसार्थे,
दानादिवृत्तिसहिता गृहिणा तु धर्मे ।
गृद्धयुमकामरसनात्तनिवृत्तनाय, धर्मो० ॥१

यत्राऽस्ति दानमुन्ति ममताविमुक्त्यै,
स्वायत्ततेन्द्रियगणस्य हता सुशीलात् ।
( भवे भवे धर्मपर कुटुम्ब, धर्मा०
क्षान्त्यै तपोऽधगमनाय शुभस्तु भावो, धर्मा० ॥१

अर्थार्जितिनसुदृशा किल धर्मवृद्ध्यै, लब्धस्य तस्य सुकृतावुपयोग उ
मोक्षस्य यत्न परसद्मतिनि स्पृहत्व, धर्मा० ॥१

संसारवासजनित प्रमदप्रकर्पा,
नो तादृशो भवति यादृश आत्मकार्ये ।
तस्यैन लब्धिरुदयाय भवाङ्गिना स्याद्, धर्मा० ॥१३

जन्मानि जन्मजलधौ भविनामनन्ता–
नावत्तकान् प्रकन्तितान्यघभारभाञ्जि ।
दानादिधर्ममलङ्कृतमेकमेतद् धर्मा० ॥१४॥

भाग्य यदव जगति प्रथन हि तस्य,
नारायण भजति कार्यमनादिकालात् ।
यन कृत मतिमतेतरथाऽपि कार्यं, धर्मो० ॥२२॥

ज्ञानानि यद्यपि मतानि बुधैस्तु पञ्च,
मोक्षैकसाधनसल श्रुतमेकमेव ।
तत् प्राप्यते तु मतिमज्जनसक्तिभावात्, धर्मा० ॥२३॥

ल्पेऽपि लोककल्नैकगुणे प्रबोधे,
नि शेषकर्मविगमो न विनैव (विहाय) यत्नम् ।
श्रेणेरदृष्टनिचयेऽपगतेऽपि जीवाद्, धर्मो० ॥२४॥

न प्रेम भक्तिरुपवास उदारभार ,
शुद्धा न मोक्षविषये विहिता सुपात्रे ।
निर्दापधर्ममधिगत्य समे फलाढ्या, धर्मो० ॥२५॥

धर्माज्जिनेशगुरवोऽपि च धर्मवृत्ति,
कुर्वन्ति सन्ततमिमे दुरितारिनाशात् ।
धर्मोज्झिते नहि जिनत्वगुरुत्वभावो, धर्म० ॥२६॥

दीपाद्धवेन्मणिगणस्य यथाथबोधो,
नैव विना घतमसेऽपमतिस्तदीया ।
धर्मस्य बोध उदयेद्गुरुदर्शभावाद्, धर्मो० ॥२७॥

अङ्गी यदा चरममागत आत्मभावा-
दावर्त्तमात्मनिचित विदधाति धर्मम् ।
——सहित प्रवरोदयाद्, धर्मो० ॥२८॥

अज्ञानरात्रि भवेन्द्रुभमागवृत्ति-
मैवामिरोचति जनो गुणलाभयोग्य ।
दु[illegible]नेति सुजने प्रगत सुमार्ग धर्मो० ॥[illegible]॥

धर्मोनियाम्य उदय विमना प्रयाति,
मार्ग प्रकाशितमपेतभवप्रपञ्चं ।
[illegible] धर्मो० ॥३०॥

हिंसाग्निनो वृतिनि[illegible] मर्त्यो,
मुञ्चेत कर्मनिचयान [illegible] ।
[illegible] न विहित नरव[illegible]जात, धर्मो० ॥३१॥

यस्य जिनरा [illegible]-
धर्माभ्यप्राहकनर समुपैति मोक्षम् ।
धर्मे स्वय स्थित इति प्रद आत्मसिद्धे- धर्मो० ॥३ ॥

[illegible] समुद्र उपयाव [illegible],
[illegible]ऽल्पगुणनोदधिनारकस्य ।
निर्नामकस्य श्रुतिनोऽमित [illegible] लाभ , धर्मो ॥३३॥

य सश्रितोऽप्यविलय प्रगत सुधर्मात्,
सैवैति धर्मपदोपचयै [illegible] ।
मिथ्या तमेव विदधाति यर्येऽहमा सत् (अ[illegible]) धर्मो० ॥३४॥

नारोऽहसा भविन आममभेतधर्मे,
पुण्यस्य योगवहते [illegible] धर्मा ।
पुण्येतरप्रविलयो हि सदा[illegible], धर्मो०

चत स एव मनुते जिनराजगीत,
मोक्त मभासु गणभृच्छियसेन धमम् ।
यावत प्रभारममल मनिभिर्धृतो–हि, धर्मो० ॥३६॥

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्याय ।

---

। चतुस्त्रिंशोऽध्याय । ( ज्ञानाधिकार )

जैनो यो मनुते मन सहगत सज्ज्ञानमात्मश्रित,
ज्ञानानन्दमयो यतो निनमते जीव समस्तो मत ।
यावच्चा विनाशित भवति तत्तत्सावृते कारक,
सज्ज्ञान श्रियता सदा भविनन । म्याथप्रबोधोत्तमम् ॥१॥

सूक्ष्मोऽसौ भवचक्रमध्यमुन्यन् ज्ञानस्य लेश दधद्
भ्रान्तोऽनादित आवृती अतितरा सर्वत्र चैकेन्द्रिय । (?)
यत्काल व्यवहारनिर्गततनुत्वाच्छरीरासु ,     सज्ज्ञान० ॥२॥

आयात पृथिवीमिदा तनुतरा प्रत्येककाय धरे–
त्त्वेताच्च व्यवहारितामनुगत प्राप्नोति सञ्ज्ञा पृथग् ।
प्राकालादमिता जघन्यपदिका वृद्धि समेतोऽसुमान्, सज्ज्ञान० ॥३॥

एव वृद्धियुतो मतावतितरा धाचायुतेजोयुते,
प्रत्येके च वनस्पतावनियमाद्वृद्धीतरे धारयन् ।
स्पर्शाशेन पदार्थरूपमननादेकेन्द्रियत्वान्वित ,     सज्ज्ञान० ॥४॥

[illegible] च क्रमभाजा भवगणान्तायप्रवाहा भवन,
मानस्यागणितेन भागमुपचन हारैश्च भाग[illegible],
सन्ध्यान स्वकृतानिति क्रमात्र ज्ञानस्य पुष्ट्यादिषु, [illegible]

पुण्यागमितेन पुष्टिपदवीं यावद्भवी सम्पतन्,
तावत्सहृपन्तेऽस्य प्रवृद्धिसहित जिह्वे [illegible]
[illegible] पुष्टिरपेक्ष्यतेऽथनिस्पृना शस्तरसूना गणे, [illegible]

यावनदयति हन्यमानजनुष प्राणापरोपोद्भव
सा तावत्प्रमित यथोगतनर पाप [illegible]
नरात्राम्नि विशिष्टता भवभूतेष्वन्येषु जीवर्द्धि, [illegible]

मानुष्यो गुरुमिश्च शोधिष्कृतये जीयस्य [illegible]
तत्तद्भेदमनुश्रितल्पपुण्यहृत्पापो [illegible]।
प्रायश्चित्तमनेनधात्ममनने सामर्थ्यमप्[illegible], [illegible]

द्विनागक्षसमन्विते भवभृति स्वर्गौपग[illegible]
स्यादाशा स्वगान्तया निजगि[illegible]।
तस्माज्जीवशरीरगा निगदिता निशा [illegible] [illegible] ॥[illegible]॥

पञ्चाक्षन्वमधिश्रिता असुभृतो मान[illegible]
जाता तत्र विना परा मु[illegible] ([illegible])। ॥[illegible]४॥
तत्तज्ज्ञानिसमुद्भवस्य विलयो ज्ञान[illegible], [illegible] ॥[illegible]

मानुष्ये व्यवहारमार्गसुगम [illegible]
लिप्याद्दर्शनेनित यदस्यम [illegible] योधन[illegible]।
तत्सत्र व्यवहारमार्गपतित पिष्टे [illegible], [illegible]

तत्त्वस्थ श्रुतमीर्यते श्रुतधरैः सर्वज्ञवाक्याश्रय,
यत्त्वयस्तना वचन समस्तविदुषा नान्या प्रमाणाश्रिया ।
सद्वाक्यैरनिवेदन श्रुतिमता सर्वार्थग तापर, सज्ञा० ॥१२॥

सनक्ष वचन सभेतरगत शृण्वन्त्यशेषा सुरा,
तेषा नैव परम्परा न च गणी सूत्रालिखर्ता प्रभु ।
पारम्पर्यमपीन्द्र न च पर सूत्रार्थधारा क्रमात्, सज्ज्ञान० ॥१३॥

देवाना न निरागमागगमन योगाद्विना न क्रिया,
मिथ्यात्वे श्रुतरेनरस्त्यहतिवत् प्रेत्योद्भव नो तथा ।
शास्त्र तन परम्परा श्रुतगता मानुष्यिकी केवला, सज्ज्ञान० ॥१४॥

तिर्यञ्चो न यता परम्परपद दूरे परात् सयमात्,
श्वभ्रस्थानिशामिलश्च नरका न श्रौतमाम्नातिन ।
मानुष्या अनिशम्य केवलनिदो नाम्नायवित्तास्तके, सज्ञा० ॥१५॥

न ज्ञान विरहय्य शासनमिद श्रौत समुत्तिष्ठते,
तीर्थस्यापि जने प्रवृत्तिरनघा श्रौतप्रबोधोद्भवा ।
श्रौत चेन्न प्रवर्तते न भवति तच्चैन पर शासन, सज्ज्ञान० ॥१६॥

निश्शेषाण्यपि पञ्चधा प्रतिपद ज्ञानानि गीतानि यत्,
तान्याराध्यपदानि स्थानमुख्यान्यात्रिपदीनोद्धृतौ ।
तीर्थदानि पदानि पञ्च सुधियामर्च्यानि तेभ्यो ननु, सज्ज्ञान० ॥१७॥

ज्ञान श्रौतमपोज्झ्य मूकसञ्ज्ञान्यन्यानि चत्वार्यपि,
ज्ञानानीति यदीर्यते श्रुतधरैस्तत्रानुयोगादृति ।
न्यायाभासनरूपता तु निखिला भव्यान्जसूर्यप्रभा, सज्ज्ञान० ॥१८॥

पूज्य निश्चनले विशेषमतिना द्रव्य जिनाद्यास्तत ,
पश्चात्येत उपारभावनिधयाऽन्यैन्ते परा स्वामिन ।
युक्ता दर्शामुख्यशुद्धगुणयुग्-गुण्याश्रयाऽऽराधना, सज्ज्ञान० ॥१९॥

ज्ञानं यत्त्वपि मोक्षसाधनतयोद्गीत श्रुतार्थाद्धरैः ,
सामान्येन तथापि न श्रुतमते मोक्षप्रयाणोन्नतम् ।
यत्कर्मागमरोधनागनिपुण सद्रूपस्थितो साधन, सज्ज्ञान० ॥२०॥

कैवल्य विमल चरित्रममल कुर्याच्छ्रुत मध्वर,
बुद्धिरप्यपि साधने सहचरी साध्या पर सा श्रुते सज्ज्ञान० ॥२१॥

यावत्तीर्थकरो वदन् परिषदि प्राग्भारमर्थाश्रित,
ज्ञात्वा निर्मल-केवलेन यतिना तावच्छ्रुत तत्त्वत ।
यज्ज्ञात न निवेदित परिषद तत्केवल केवल, सज्ज्ञान० ॥२२॥

मत्या यान् विनिभान् मनोगतनमा वेत्तीह योद्धा नरो,
नैतान् वस्तुमल ततो न गदित सर्व मति केवला ।
मत्या यच्छ्रुतमुच्यते मतिधनैस्तत्साधनापेक्षया, सज्ज्ञान० ॥२३॥

संस्कार मतिग तनोति सुतरां यत्संस्कृता स्यान्मति ,
धौतेनान्विसमानसा नहि भवन्त्यल्पत्वभाजो मते ।
अज्ञाये तु भवेच्छ्रुते प्रथमत शब्दादयो बुद्धिगा , सज्ज्ञान० ॥२४॥

ज्ञानत्य विदित समात्मकतयाऽऽदेय च शास्त्रात्तथा,
श्रुत्वाऽधीयत सन्मात्मपरग मोक्षान्तमापत्फलम् ।
तेनेद जिनराजसम्मतिगत ज्ञान सदा ध्यायते, सज्ज्ञान० ॥२५॥

येऽर्था सन्ति चराचरे जगति ये तद्वाचका नि स्वना,
 र्नैत पतिता ध्रुवोऽपि वियदाशाद्वन्तृवश्चोद्गता ।
ते सर्व परदृष्टिनादमपतन् तत्तद्वर सनवित, सज्ज्ञान० ॥२६॥

दृष्टिश्चेन हि साम्यता हृदगता नैसार्थबोधोऽमल ,
 स्यादित्थ परदृष्टिनादमनन सम्यग दृशा सलभात् ।
अक्षातीतपदार्थबोधनपटु सम्यग्-दृगात्मो ध्रुव, सज्ज्ञान० ॥२७॥

ज्ञानार्थ यदि ते मनो भवति चेदाराधनायोद्धुर,
 नित्य तद्गुणगाहिना गुणवता भक्त्यादि कार्यं कुरु ।
ध्यान सत्पदजाप उन्नतिकरोऽभ्यासो नवीनश्रुते , सज्ज्ञान० ॥२८॥

ज्ञान ज्ञानवता महाव्रतजुषा भक्त्यादिभि प्राप्यते,
 यत्नैपोऽस्ति गुण परेभ्य उदितो यो दानदेये क्षम ,
पाठाना अपि मगता न मतये चेद् नैत आप्ता नय सज्ज्ञान० ॥२९॥

यस्मान्त प्रकटा समा नयभिदो वाचश्च नो विधृता—
 स्तस्त्वा मद्विनय सदा सविनया जीतेन यत्तद्वशा ।
काय स्वप्नदशागतोऽपि विनय नोज्झेत्सुगीतात्मन , सज्ज्ञान० ॥३०॥

नाप्नु योग्यपदान्वितो नरपतिर्धिकारदूरीकृतो,
 देवाना न करोति साधनयुता भक्ति परा यौगिकीम् ।
चेत् तज्ज्ञानपदान्वितेषु गुरुषु निधान्वितो ज्ञानयुक्, स० ॥३१॥

नास्त्यन्योऽपर एतदृद्धिसदृश प्राप्तर्धिक सद्गुणो,
 य सद्नामपद भजेत् परजने मूलाङ्कवेद्याऽधिक ।
चेत्तादृग् गुणसङ्ग्रहो न रुचिदो गन्ता क्व सोऽव्यय, स० ॥३२॥

। पञ्चत्रिंशोऽध्याय । ( सम्यक्त्वाधिकार )

जनोऽसौ मनुजं सन् जिनपतेराज्ञा सुमाना सति-
माहात्म्यन्त उदारकर्मनिधना स्वर्गाय मोक्षाय च ।
ज्ञात्वाऽनादिभवाटन भवभृता तच्छेदनाय स्वय,
त्यान्दुद्धतर चरित्रग्रमण स्थिर जिनेन्द्रे परम् ॥१॥

उत्कृष्टोऽत्र न चेदतीतदुरितो नाप्नोत्यभव्य शिव,
तत्पूर्वं भवधारिणाघविलये सम्यक्त्वमादीयते ।
तत्र स्तो यतनानता प्रशमिना निर्वेदसवेगकौ, दध्या० ॥२॥

मोक्ष मत्रमतेर्धरैरनुमतस्त्यागेन सर्वास्तिके ;
धर्मांशापगमाज्जिने परमतं चारित्रयुक्तेरसौ ।
यन्नारब्ध उदित्वरेऽघ उपयात्यन्त पुरा सञ्चित, द याः ॥३॥

पापेभ्यो भयमादधन्त उदिता भव जगत्यास्तिका ,
पापानां नहि कारणानि मनसा स्वै स्वै स्थैनानते ।
अज्ञानाश्च दयामुरा प्रतिपन्न प्राणिव्रजान् प्रत्यसौ, दध्या० ॥४॥

पाप हेयतम नृभि प्रतिदिन स्वीये सदस्यव्रजे,
व्याख्यान्तो न च तीर्थिका परिहृतौ तेषा समथा यत ।
जानन्ति न हि ते स्वरूपमथ चाङ्ग साधनाद्य तथा, दध्या० ॥५॥

जीवानेव वदन्ति नो परमता चारवाय धाष्ट्यं परं,
पृथ्व्यादीन् प्रथितान् त्रसेतरविधान् पञ्च स्थिरान् (मौन्यत) ।
मन्वादि-प्रविधानदक्षमतिकान् यायान् जगौ पद्मितान्, द या० ॥६॥

पगाय वपुरघन सहकृत रूप्वा समेऽमी मुनि,
आहार च मनातन प्रतिदधत्यार्मीयजातिस्मितम् ।
सत्यपेरमनात्मतत्त्वविदुरा नोशन्ति प्रव्ल्याप्रमून्, दध्या० ॥७॥

आत्मान समुपेत्य मुक्तिपदवी शश्वमता नैव च,
भव्यानामवसानिता न च जगपूर्ण मत शूरै ।
यत्रामित्वमसुभजस्य सफ्ने भोग क्रियाया नित्ते, दध्या० ॥८॥

मत्र प्राणभृत स्वकमफलिनो नैवान्यदत्त हत,
भुञ्जन्ति प्रभुरीश्वरो न च फले धर्ता नियेता भवत् ।
ससारोऽयमनादिको जनिमृतिम्रातो मतो यत्र सद्, दध्या ॥९॥

येन कर्तारमुपैति विश्वजनक नारिष्वदोगत्यक्-
शोकोत्पत्तिमशानि तानि जनताद्रु सा युपैतीश्वरान् ।
तन्निष्कारणनैरितामुपगतो यत्राश्रितो नेश्वरो, दध्या० ॥१०॥

सत्रया जगतीतले निस्तरो हितोपकारेतरो,
निन्दाम्नोत्रममानयन् जनव्रते भास्य प्रभास्ते सदा ।
तद्वपत्र मतो जिनेन्द्र उदितादयेतरार्थोदिति–दध्या० ॥११॥

दु खाम्बरिष्यति भवोदधिमज्जनेने–
ष्टो नार्चितो न जगता प्रभुरेप लोकान् ।
मीत्येति नैव महनीयपदे मतोऽर्हन्, दध्या० ॥१२॥

स्वर्गापवर्गपदवीं विनयामि सम्य,
स्यात्तो न मे चरणपङ्कजपट्पदाम ।
चेत्स्यात्तथा प्रतिरामि सुदति नाऽत्र, दध्या० ॥१३॥

आत्माऽनादिभवभ्रमि स्वहृतगुर् चैतन्यपूर्णा भवेत्,
सम्यग्ज्ञानबोधवृत्तसुगुणैश्चेदुद्यमी मोक्षणे, दध्या० ॥१४॥

य समारचनाम्गुदारलसिमाद्ध धात्स्वय निर्गतो,
लीन सयमसाधनेऽपनिचय क्षिप्त्वा व्रत चेजलम् ।
श्रीसङ्घाय समाश्रिन् मुनिगृहिश्रेय सदाऽऽग्राहते, दध्या० ॥१५॥

समारारम्बुधिमग्नचित्तचरितोऽथ प्राणिनाशाङ्कित-
स्त हित्वा गुरुयोग्यतामधिगत सोढोपसर्गान् क्षमी ।
मान्यो यत्र गुर मदा शिवपथे पान्थीयति ति स्त्रहो, ध्या० ॥१६॥

पूज्या यत्र जिनशिन शिवपथोद्देशात्स्वरूपस्थिते,
सिद्धा धमसमादरा गणिगुरा सेव्या सुपात्रस्थिते ।
सद्दृग्बोधचरित्रगुद्धतपसा सङ्घ सुधर्मास्पदे, दध्या० ॥१७॥

आत्मा ज्ञानमुखामितैगुणगणै सिद्धौ युत स्फातिभाक्,
तत्तद्रूपविभावनावनसुखो धम स्वरूपे निजे ।
तत स्यात्तिलसङ्क्षये न रजसि तत्रान धर्मोऽपरो, दध्या० ॥१८॥

पापाले परिवारत्र सततमिहोत्कृष्ट सथा वसन,
दान्त्वाऽक्षाग्गिण तपोऽनशनतो वैराग्यद भावनम् ।
नारम्भो न परिग्रहो न विषया धर्माय देहस्थिता, दध्या० ॥१९॥

ऐश्वर्यं क्षयमाश्रितेऽपनिचये न्यायात् पथो लाभत-
स्त पात्रालसिङ्कृत हृदि मदा कर्तुं मनो धारणम् ।
श्रेयो यत्र न लोममन्नयकरे लाभे न जातूत्यते, दध्या० ॥२०॥

कर्माण्यष्टविधानि बोधमुसलान्यामिद्य मोक्षं गमी,
भव्यो धर्ममुपेत्य शश्वतममु बोधात्स्वय वा गुरो ।
याऽस्त्या प्रतिमागता शिरश्रिता यत्रार्हता सम्मता, दृष्या० ॥२१॥

धर्मो यत्र निरोधवर्जनपरो जीवान्तकारिण्यपि,
सर्वेषां भविनां सुखैकमननो दुःखच्छिदु स्तापनुत् ।
रागद्वेषविवर्जितात्मनि गत सत्तत्त्ववेत्तु सदा, दृष्या० ॥२२॥

यत्राश्रिता गुरुपदे क्षितिमुख्यकायान्,
जानन्त उत्तमधिया परिरक्षयन्त ।
चैत्याश्रयाश्रितजनादिममत्वमुक्ता, दृष्या० ॥२३॥

यत्रास्ति मान्यमनघार्हतशास्त्रवाक्य,
पूर्वापरार्थविषमा नहि यत्र वाणी ।
सर्वाङ्गिजातहितकृत् परमार्थदेशि,
दृष्यान्चरित्ररमण निनदशन साक् ॥२४॥

यत्राऽस्ति कोऽपि जगता न वधादिपात्र,
शान्त्या समस्तजनताऽघविनाशनाय ।
मोक्षाविरुद्धसरणिं प्रति सारयित्वा, दृष्या० ॥२५॥

ज्ञानं न यत्र विषयाभ्यसनैकरम्य,
नैरात्मरत्नपरिणत फलिताथशून्यम् ।
हेयादिहानिमुपलक्षविदितात्मतत्त्व, दृष्या० ॥२६॥

दु राद्विपो जगति दीनदशामुपेता,
दैवाङ्गनादिरसलालितलग्नदेहा ।
नेनाहता सुमहनीयपद मुनीशा , दृष्या० ॥२७॥

धर्मं विदन् प्रविदधद् विरताघवृन्दो,
धर्मं सदा प्रविदिशन् जिनराङ्गुदीर्णम् ।
यत्राहतो गुरुजनोऽनघमार्गगामी, दृष्या० ॥२८॥

प्राग्धर्मोचितसत्पदोऽनघपथो रागादिसर्वारिहा
स्याद्वादामृतवर्षको मुनिगणैराम्नाय शाश्वत ।
अन्य श्रीजिनराट सदा सुरनरैर्ध्येयो मत सद्गुणै, द० ॥२९॥

ये धर्मं परम श्रिता जिनपदे बिम्बानि तेषा सदा,
कुर्वन्त्यादरसयुतानि विशदासत्स्थापनाढ्या सद ।
मोक्षाध्वप्रगुणोऽङ्गिवग उदितो यत्रास्ति पुष्टौ धृतो, दृष्या० ॥३०॥

मांहुत्ये पञ्चनमस्कृति क्षण इहार्थे सस्मृता पूजन,
पुष्पाद्यैर्जिनराजबिम्बविषय सत्सारेणाश्रितम् ।
धर्मस्य श्रवण न रात्रिरसन सुप्ति हृताराधना, दृष्या० ॥३१॥

पूज्यो यो न रमा रमेत विषयेनात्राणि द्वेषावहान्,
नाज्ञानाज्जपमालिका न च परे लीनो भवोत्तारके ।
पर्यङ्कासनदृग्यतोऽखिलभवान्तेऽसौ गत सा विद, दृष्या० ॥३२॥

पूज्यो यत्र गुरुर्निराश्रयतनु सत्सयमे यो दृढ ,
सोढा स्यादुपसर्गदु खविततेर्निर्जित्य दृङ्सुरयगान् ।
सर्वानेत्र धरीपहाभयचयह्रासैकदृष्टि सदा, दृष्या० ॥३३॥

धर्मा यत्र समस्तमस्त्रतवये मा मीप्र सिद्धये,
पण्णा जीवनिकायरक्षणरतो युक्तश्च तस्मिन् सदा ।
आचारैरपदूनने फलभरत्तावैस्तदाचारिभि-दृष्या० ॥३४॥

नो यत्राचनमापगायरिगत नागागवृक्षाश्रित,
तिर्यग्जातिगत न सद्गतिगते देर क्वचिन्नाश्रितम् ।
कैवल्यान्वितमद्गतित्रजगत तत्साध्यत सरदा, दृष्या० ॥३५॥

तिष्ठेत्र जन पुराङ्कतसुरद्दुर्नीतिरीतिप्रदो,
मा यस्मायपथानुगोऽघनिचयोऽत्रामिश्रद्धादर ।
एग्य शिरमन्तनाथरहित ध्येया जिनो देवता, दृष्या ॥३६॥

पर्वाण्युत्सवरागयोऽत्र वितता दाने धने सद्व्रते,
भावनोज्झितशास्त्रेन तपसि प्राणैकरक्षापरे ।
उग्रन्तु जगता हिताय शमिना शुद्धोपदेशे सदा, दृष्या० ॥३७॥

यत्र स्मृता पृथुगुणा मुनीना निरासा-
स्त्रीतिर्यगादिवियुता रहिताश्च चित्र ।
साङ्गिध्यतोऽपि न पर श्रितमैथुनागा, दृष्या० ॥३८॥

यत्रस्थितानि न विनाद्मुखान्यलीका-
न्यादीयते तृणमपीह परै, प्रदत्तम् ।
धाय तु नञ नवभेदमुदारभार, दृष्या० ॥३९॥

यत्रास्ति नैव निशिभोजनमशतोऽपि,
बाल्यादपीह फलपञ्चकमत्र ।
मानन्तकायनिचयोऽशनमेति जातु,

चैत्ये यत्र विधायते स्थितिपद वामे स्त्रिया दक्षिणे,
पुसा, नैव परस्पर स्मृशिविधिर्नो वेषवैयत्यत ।
पुसा यत्तन नैव (नर न) देवचरण शुद्धयै निजात्मस्थिते–दृध्या० ॥४१॥

मृत्युप्राप्तजनो हि यत्र नितरो न श्राद्धकामी स्वय,
भोक्ता सञ्चितकर्मणो न निहितं प्राप्य परैरर्पितम् ।
पार्थक्येन जगन्ति कर्म निजक भोक्तार इत्युच्यते, दृध्या० ॥४२॥

यत्र श्राद्धगृहेषु ब्राह्मणगता कालाम्बुनाडी भवे,
यत्रस्थस्य न कूपिका न च भवेत स्थानुप्रपीडा गुरु ।
न धर्माय नगादिसिञ्चनकृतिर्नैवामृताशी प्रथा, दृध्या० ॥४३॥

सेवाली नहि यत्र नैव च पय पूर्वयोऽनर्थको
नो पण्डादिविपोषणाय निहितिर्नो पञ्जरालिगहं ।
न न्यायेन विनिर्गता चितिरपि प्रध्वस्तपुण्या कृति–दृध्या० ॥४४॥

स्याद्यत्रास्तिकवश्मसु प्रमितिमान् पानीययत्ना पृथा,
ना हिंसा वनतजसामतिमिता चेष्टा भवेत्प्रगिनाम् ।
त्राणायानुपद स्थितेतरभिदा मीतिश्च पापान्त , दृध्या० ॥४५॥

यत्राम्भोगलनानि धान्यतृणगोविटकाष्ठमुख्याश्रिता,
रक्षार्थं त्रसजीवसन्ततिश्रिते यत्नोऽन्वह वीक्ष्यते ।
स्थान स्थान उदीक्ष्यते मृदुगुणा सम्मार्जनीना तति , दृध्या० ॥४६॥

चुल्हादिप्रसित तु दशदशसे चन्द्रोदयैरङ्किते,
मत्सामायिकपौषधालययुते दानादिधर्मोद्धुरे ।
वास स्याद् गृहमेधिना जिनगुरुप्राप्तागमे सद्गृहे, दृध्या० ॥४७॥

पाला अप्यनुवासरं स्तुतिपदामुद्घोषयन्ति स्फुटं,
सम्भूज सुमपङ्कजाद्युचिरमान्यहृद्गुरूणां घन ।
सर्वाभीमन्यामता सुविनीता सद्वेषसुधाः सन्ना, दृष्ट्वा० ॥४८॥

सं छद्मायगीरत्र चैन्यसुगुरुस्थानेषु यन्नादरा,
दानं पौषधकर्मणि प्रविततौ सामायिकानां घृतौ ।
यद्गच्छासनमानितामभिलषुमानं मन्ना कुर्वते, दृष्ट्वा० ॥४९॥

ग्लानानां प्रतिचारणासु निरता सर्वे जना निर्भिद,
मत्वा ता प्रतिपातयन्तितमाः सद्धर्मसिद्ध्यै मुदा ।
यत्रस्य स्त विद्याभ्यासनिताश्रेणिप्रभाशोभिताः, दृष्ट्वा० ॥५०॥

यत्रात सरलाङ्गितरनिपुणमैत्री च सर्वासुमि–
मादः सप्तगुणान्वितेपु सततं सान्द्रं च हृद् दु खिपु ।
इत्यादयनिरर्जितपु सरलोपेक्षा पन्थर्धन्यल, दृष्ट्वा० ॥५१॥

यत्र स्याद्गृहिणां सुतार्थगमनं सार्धं सधर्मार्मिकै ,
यद्वैरीणां प्रतिपालनेन सुमहत्सद्धार्मिकोद्वसला॒ ।
तन्वन् सन् प्रतिधामसद्विधियुता पूजा सनात्मन्यत्र, दृष्ट्वा० ॥५२॥

चैत्ये जिम्नविधौ निदशलिपिपु वाचयमे श्रावके,
प्राप्तानां विनियोजनं वितनुते नित्तसन्तानां सुधीः ।
यत्राप्तैर्विहितो धृतो मतिधरैर्मुक्त्यथमात्तमनो, दृष्ट्वा० ॥५३॥

य देशान्तरमाश्रिता प्रतिदिन चैत्यार्चनादौ रता ,
श्राद्धान् यत्र प्रवन्दितानि कृपया वन्दापयन्त्युन्मदाः ।
चैत्यानि प्रतिभाममानसुन्द सम्मीलनं नै सन्ना, दृष्ट्वा० ॥५४॥

न्यायाचार समर्जन धनगत शस्त प्रयोग पुनः,
सत्तीर्थेषु जिनेन्द्रबिम्बसहितप्यासायते मुक्तये ।
तस्योद्धारनवीनकार्यविधये मामेऽपि सत्यादिपु, दध्या० ॥५५॥

स्याद्वादाम्बुधिसम्भवानि वचनान्यर्थापयन्त्यन्वहं,
रत्नान्युत्तदर्शपिषु प्रतिपद यत्राहता: सम्मदान् ।
पर्याये परिमीलितानि भुजने द्रव्याणि पट सश्रिता, दध्या० ॥५६॥

जैन स्याद्विमलेन दर्शनपदेनोढ परार्थे दृढ,
आत्मान भववारिधे परतटमानेतुमुत्कंठमना ।
जन्मार्द्यैर्विविधैरशमनिधिभिर्जाता व्यथा व्यथयन्,
दध्याच्छ्रेष्ठतम चरित्ररमण दृष्ट जिनेन्द्रै परम् ॥५७॥

इति पञ्चत्रिंशोऽध्याय ।

---

। षट्त्रिंशोऽध्याय । ( चारित्राधिकार )

जैनोऽसौ ननु यो दधाति सदये मोक्षैकसौधारुहे-
ऽलम्भूष्णु प्रबलानुविवजहतौ निष्ण चरित्र परम् ।
सत्र्ऽप्येतदवाप्य कर्मविलय परमेश्वराश्रिके,
आत्मारामपद भजतु भविनश्चारित्रमत्युज्वलम् ॥१॥

कायास्ते पृथिवीमुखा षडपि नो घात्या मनोवाक्तनु-
सम्भूतैः करणादिभिस्त्रिकृतिभिरात्मोपमास्ते मता ।
यावज्जीवमनाहत व्रतमिद यत्राश्रयेत्निमम, आत्मा० ॥२॥

मोषात्तु घनया हसेन भयतो नो यत्र वाक्य मषा,
स्याद्वाच्य निखिलाघहेतुतुलित ससार उद्भामकम् ।
सर्वा पापपरिग्रहैकरुचिरा जायेत चेष्टा तत, आत्मा० ॥३॥

नादत्त तृणमात्रमथमपि चादीयेत यत्रान्छता,
दन्ताना प्रविधातुमाप्तनिकरैरादेयधार्यऽखिले ।
श्रामार्थान्तनिष्ठित मतमिह सेव्य प्रदत्त शिव, आत्मा० ॥४॥

यावज्जीवमनारत गुरुगुण धार्य तु ब्रह्मान्वित,
सिद्धाभिनरभि सदा सुवृतिभिर्य जीविताभ व्रते ।
सर्वासयमसाधन परिहरेत् स्त्रीसङ्गमत्रोषित , आत्मा० ॥५॥

तस्मिन् जगतीतले विदधीतासङ्गत्वभाव त्वच-
नि शेषाथपरिग्रह स्थित इह धर्माणुमीतो मुनि ।
धर्मायापि धरेन्नोद्दरणदृग् नि सङ्ग उत्तोपधि, आत्मा० ॥६॥

वाध्यायादिनिघातक धृतगुरुब्रह्मास्टन शार्वर,
र्थि चाशनपानसाम्यसहिते स्वाद्ये निशाया त्यजेत् ।
त्वैदात्मनि यत्र सत्त्वविषया स्फूजत्सुधी सदया, आत्मा० ॥७॥

धि लोभमदान्वित च निकृतिं जह्यात् स्थित सद्गिरि,
शौचे सयमसयुते सुतपसि ब्रह्मण्यसङ्गे रत ।
र्वैद्य दशयोदित धृतव्रतो धर्म तु यत्राश्रयेद्, आत्मा० ॥८॥

थ्यादिश्रितपञ्चक निजमपूर्णाश्रित पूणत,
जीवाना गतचेतनाँश्च यतते प्रेक्षा ससुप्रेक्षिकाम् । -
याग चापहृति समीक्ष्य तनुवाकूचित्तै सदाऽऽरोधमान्, आ० ॥९॥

सूरौ वाचक सत्तपोऽसहशिशुनाते कुले सद्गणे,
सद्धे साधुमनोज्ञयोरुरु सदाऽऽवीयत वैयावृतिम् ।
यत्नत्यै प्रतिपातरनितततु स्वात्मश्रिय कामुकै, आत्मा० ॥१०॥

योषाणा निलये न वासमुचिता वाता करोतीह य,
सेवतासनमिन्द्रियाणि दमयेत् कुड्यान्तरो न भवेत् ।
क्रीडा न स्मरतीद्धमुज्झति रस शोभा न काये सृजेत्, ॥११॥

यावज्जीवमविश्रम क्वचिदिह ज्ञानादिरत्नत्रय,
द्वौ भेदौ तपस स्वषट्कसहितौ क्रोधादिवृन्दोज्झनम् ।
मप्तत्यान्यमिद हि चारुचरण यत्राप्यते सतत, आत्मा० ॥१२॥

आहारे वसतौ पतद्ग्रहधृतौ वस्त्र च शुद्धयर्थिता-
मीर्याद्या समितीश्च पञ्च दशयुक ते भावने द्वे कृतौ ।
भिक्षूणा प्रतिमा सदेन्द्रियनय वस्त्राद्यवेक्षा गुपी, आत्मा० ॥१३॥

आबाल्यादपि दीक्षण भवमिद कर्मानलाम्भूपम,
यावद्दीक्षणकाययोग्यमसम सामर्थ्यमिष्ट तनौ ।
वर्णाना न भिदा न चाश्रमक्रमोऽस्त्येष्टोऽत्रधर्मेशिवे, आत्मा० ॥१४॥

नैवाऽत्र क्षितिकर्षण पशुगणो नैवात्र पाल्यो मतो,
व्यापारोऽपि समस्तपापनिलयस्त्याज्यो मत, सर्वथा ।
आरम्भात् सपरिग्रहाद्विरमण नैव त्रिधाऽत्राईते, आत्मा० ॥१५॥

यावत्स्थाम शरीरज मतिसुखान् शक्तो गुणानेधितु,
नि सङ्गोऽत्र भुवस्तले नवविध कल्प समाराधयन् ।
धर्मोद्योतपरोऽपसन्ततिभिदे कुर्याद्विहार मुनि, आत्मा० ॥१६॥

यत्राऽऽङ्गारकृति समुज्झितपदा चक्षुर्युगैद्रूपणै–
यत्रानास उदीरितो मुनिगणान् रक्षाक्षमो ब्रह्मण ।
यासो जीगमनृतन न च परैरर्थं यसीतान्वह आत्मा० ॥१७॥

पण्णा जीवनिकायगावस्यैसुमता ज्ञाता स्वरूप वध,
नैव नैघमुदारधी परिहरेत्तेपा तन्नोपस्थिते ।
स्थाप्योग्योऽत्र मुनीश्वरोऽत्यनिनपे तीर्थे तथाऽऽरम्भते, आ० ॥१८॥

पर्यायेण युत समाहिततया स्यात् सूत्रलायी मुनि–
श्छन्दाना तु यदा भवत् परिणतो योग्य श्रुताना मत ।
आचारस्य प्रकल्पने क्षम इह स्याद्धमदर्शी मुनि , आत्मा० ॥१९॥

त्सर्गैरपवादनैश्च विनिर्धियुक्ते श्रुते सार्थके,
योऽधीती स गीतार्थतामधिसरेद्योग्यो मुनीन्द्रे पदे ।
सद्योऽप्येनमधिश्रयेच्छुतविधौ मोक्षैकतानोऽत्र द्राक् , आ० ॥२०॥

गार्हस्थ्येऽथमुवास वेषमसहृत्तत्साधुभावे त्यजेद्,
ज्ञातेयांश्च विचित्रसङ्गसहितान् द्रव्यस्य सर्वं धनम् ।
निस्सङ्ग प्रतिबन्धवर्जितमना देशेषु यत्राटति, आत्मा० ॥२१॥

यत्रस्थ प्रतिपादयेज्जनगणान् धर्मं विना निश्रिति,
तुच्छाना प्रतिपूर्णभव्यता हिंसादिपापोज्झनात् ।
दानाद्यै सहित सुदर्शनमतियुक् सद्‌मत ख्यापयन्, आत्मा० ॥२२॥

यत्राऽऽख्याति जन सुधर्ममनिश धर्ता प्रकल्प्यस्य य ,
स्यात्तु सयममार्ग आगमरुचि सत्त्वोद्भवो सोद्यमः ।
स्थाप्योग्योऽयमनुश्रयन्न तु परस्त्वाऽऽयको नत्तरु , आत्मा० ॥२३॥

देव मोहमहाभगोज्झितिपर सवनसर्वक्षिण,
शक्राद्यै सुरसार्थपैर्नियमतोऽन्यै पादयुग्म सदा ।
यस्माशेषपदार्थतत्त्व इह ख्याति स्थितोऽन्तेन, आत्मा० ॥२४॥

सर्वारम्भपरिग्रहाद्विरतश्च शास्त्रार्थपाठे रतो,
लीन संयमसाधने परतपा मोक्षार्थचेष्टापर ।
यो भवतीह सुधैकजीवनपर सोढोपसर्गावले
( स ख्याति धम स्थित ) आत्मा० ॥२५॥

सम्यग्दर्शनबोधवृत्तकरणैमुक्ति यन्मत्र स-
न्नामादिन्यसनानि नीतिमितिभिगम्यानि तत्त्वानि च ।
निर्देशादि-सदादिभिश्च मीलितै रोधाय कर्मावले , आत्मा० ॥२६॥

एकाक्षादिमभा मता मतिभिदा श्रौतस्य सावाक्ति ,
स्थाना तयसुराश्रिता भिदवधौ ज्ञेयात् पुनर्मानसे ।
सव द्रव्ययुत तु बोधति विदान्त्यं ख्याति यत्साश्रित , आ० ॥२७॥

स्याद्दात्माश्रितभावपञ्चकमिह जीवावतीना क्षया-
च्छान्तेर्मिश्रणतो द्वयोरुदयतोऽनादर्भवाम्नामनात् ।
स्थैय कायविधानमयुतमिद सोपक्रम जीवित, आत्मा० ॥२८॥

यद्दानाद्भवतीह कर्मफलतो वेद्य भवेत्कोटिश ,
कायो जीवितमीदृशोऽसुमवता श्वभ्रेषु देवेषु च ।
अत्रायाति चतुष्टय गतिभृता निर्विण्णताल धये, आत्मा० ॥२९॥

सयोगोऽसुमता मिथोऽणुवितते लोक्यप्रमाणात्तकद्,
धर्माधमनभोऽन्वितात् परिमितिभाजोऽणवो नासवः ।
कालोऽनन्त इतीह षट्कमुदित द्रव्यस्य याथाध्यत , आत्मा० ॥३०॥

जीवे कम लगेत् यन्ाश्रवततेरात्त स चाश्रमते–
युस्तैयागकषायनैर्विविघतो यत्कर्म चग भवे ।
मिथ्यात्वेन कषाययोगसहितेनात्मलग्न मत, आत्मा० ॥३१॥

हिसान्या श्रुतवेदिना प्रतिपद वर्ग्या प्रतिज्ञाविध ,
शेषाणि त्रिदशामुतोऽघनिचयाद्धा ततोऽमी नत ।
सद्व्रत समितादिभूरिगुणिनोऽत्रोक्ता सप साधना , आत्मा० ॥३ ॥

ससारोऽयमनान्तिोऽन्तरजराकीर्णोऽसुराना सनि–
रुठेयो मतिमद्भिराप्तुमसमज्ञानादिपूर्ण शिवम् ।
लोकामास्तिजन्तुपु स्थितिधर यातीति यत्राश्रित , आ० ॥३३॥

देय दानमपापरऽपरहित धर्मोद्यमे सत्सगा
दु खिप्राणसुतोषक गतभय धृत्वा दया हृद्गताम् ।
जीवाद्यर्थनिरोधन च भविना ज्ञानऽत्र दान मत, आत्मा० ॥३४॥

क्रोधो हृय उपेत्य तापप्रद(निपु णो मानोऽन्तवृन सन्नते ,
विश्रम्भैरविघातिनीं परिहरेन् माया पद स्नीविद ।
लोभ सनविनाशपाटवधर जह्यादिति त्यायत (ह्येत्त सदा), आ०

पूर यन् सुकृत चित नरभवाद्याप्तिस्तत सङ्गवा,
मात्वा दु खफल न किं सफलयेत् सद्दानाद्यान्ते ।
दौलभ्य पुनरस्य चोलकसम सुदृष्यौचनस्वेह वार् , आत्मा० ॥३६॥

नित्योऽय परिणामवान् चितनुते सङ्ग वियोग सदा,
कर्मालिङ्गनतादितोऽप्रियसुखोऽन्यस्मा विरक्तेस्तत ।
सिद्धयै सन्ति सुदर्शनादिकगुणा मत्वेति सिद्धान् स्मरे , आ०

कर्मालिप्रमनो भवो न विहितो दुःखैककृपा विभुः,
भर्त्ता नाऽस्य न चापि दुःखसुखयो: ग्याता तु कर्माश्रिते।
ते प्रत्येकमिहाङ्गिषु प्रयततामित्याह यत्सर्वित , आत्मा० ॥३८॥

इत्यादयतया भिदाऽर्थनिचये ज्ञानोत्क्रमात् प्राणिनां,
पाठ्याऽजीवतते सदोषकृतिषु पुण्ये च पापे क्रमो।
कर्मानुक्रमगो गुणेषु निलयात् पाठ्याश्रवे सम्मता,
प्राग्यत्वन च संवृतो बहुगुणोद्दीप्तिक्रमो निर्जरे।
बन्धे छेदक्रमो मतोऽचलपदारोहस्य श्रित्वा गुणान्,
मोक्षे धीपदग: क्रमो नवमिति प्रोत्साहितास्तद्विद।
तत्त्वाना मतमाश्रयद्भिर्जिनपस्योन्यत आप्नु शिवं, ॥३९॥४०॥

यामेऽन्त्ये निश उत्थनेऽत्र निलय सुप्त्वा स्मृतेरर्हतां,
स्वाध्याय चरमाश आस्सनतामवन्दिये लेखनाम्।
पादोन प्रहरे तु भाण्डलिखन सूत्रार्थपाठो द्वयो,
भिक्षा चाह्नगतिद्वय तु तृतीये लेख्या सशय्याशुभं।
पानेऽन्त्ये प्रहरे तु क्निंक्रगता कुर्यात् पडावश्यकीं,
व्युत्सृज्याखिलपापसन्ततिमथ स्वप्याद् द्वयोर्यामयो।
शेषे धर्मसिते तु मोक्षगमने ध्याने च काले हृदि, ॥४१॥४२॥

यत्रोज्झितानि मुनिभि: सकलानि कर्मा--
ण्यास पद त्वविकल परमात्मरूपम्।
तान्येव वन्दितुमनाश्चरतीह साधु,
श्रेष्ठ तदेव चरण भविका श्रयध्वे ॥४३॥

१

गाँवे सिद्धगिरिं स रैवतमथो सम्मेतमष्टापदं,
चम्पा पुरीमपापिका गिरिमथो वैभारमप्युन्नतम् ।
शाखहं विविधातिशायि जिनपोपेतानि सेवेऽत्र स्थानं, आ० ॥४४॥

मोक्षस्याप्तिरुपारस्वरूपधरणे सद्दर्शनाभिश्रय,
तद्धेतु प्रतिमं धरायमनरं ज्ञानात्सुधामोऽन्तगम् ।
चारित्रं त्विह यमन्धनिरुये नयाग्रहणान्वित, आत्मा० ॥४५॥

य य धनहतको भवमृता कायातिप्रायिका-
न्नासान् व्युत्सृजतीह प्रेत्यगमने स्यान्यथा धधनम् ।
तत्यापीति विवेकरत्नमसमं ध्यायेत्सुधीरग्रग , आत्मा ॥४६॥

प्राणान्तेऽप्यनघा दधीत मुनिराट् संन्यासनामयुतां,
दृगादीन् प्रतिभून् विधाय महन स्थिर समाराधनाम् ।
ध्यानान्तिकगोचरा विधिपरः शल्यानि हत्वा सुधीं
( अत्र बुध ) आत्मा० ॥४७॥

आम्नात फलमत्र धर्मकरणे स्वर्गापवर्गद्वय,
गर्वोद्धुरसम्मिता अपि अहोद्भूते सुखे सादरा ।
गौणीकृत्य ततोऽमिम परमं वाञ्छेत् सदाऽऽत्मोत्थ , आ० ॥४८॥

न्न धर्मयुते गुरौ च न यथा रागोऽस्य धक्षम ,
सम्यक्त्वादिगुणावलेर्निमलताऽस्मादय वस्तुस्थिते ।
मढ्नमोक्षपदऽभिलाप उदितो वैराग्यसद्दूरहर , आत्मा ॥४९॥

अग्यन्त सुधियाऽत्र ये परिकरा अर्थादयो यत्नत-
स्तेऽस्य मरणान्तमाप्य नियुजि गन्तार आप्ता न ते ।
यमहर्षवियोगतो निजगुणा आप्ता शिवे दायिन , आ० ॥५०॥

नष्टो नैव समुन्मिलत्यपि परा बाह्योऽयं आत्मार्जितो,
नष्टोप्येति पुनस्त्वपार्थभरतोऽप्यस्य ज्ञानादिगुण ।
बाह्या चैव हि याति शुद्धिपरमा तत्तत्र कार्या स्थिति , आ० ॥५१॥

ज्ञानादित्रितय मत नियमतो यद्भावलिङ्ग मुने-
द्रव्येणापि रजोहर मुखपटीपात्र सचोलागुच्छम् ।
लिङ्ग स्यान्यदुरापधमजनन धार्य सन्ध्याऽन्नोदित, आत्मा० ॥५२॥

चारित्रस्य भवति जन्मनि परोक्ष्या समाक्रम्यो,
धपेणास्य चरित्रचारमतिना तावत्प्रमाणा भवेत् ।
वेषेणैव वन्द्यतामनुगतश्चक्रीह शमादिभि , आत्मा० ॥५३॥

उत्सर्गेण हि कोऽपि न प्रतिकृति कुर्याद्विदाना मुनि-
क्षेत्रो तिष्ठति धर्मशुक्लमनन कुर्याद् द्वितीये पद ।
बोधिर्दीपतने पुनन गृहिता ध्यान शुभ चोद्भवेत्, आत्मा० ॥५४॥

अश्वे हस्तिनि गोव्रजे जनगणो भूपार्थमाभूपणा-
न्यारोहेन च तत्र ममता काचित् पशूना भवेत् ।
तद्वत्सयमसाधनाय यतिना मुक्तोपधौ मुक्ता, आत्मा० ॥५५॥

यावल्लाभमधारयन्नृपवर स्तेन महालोभिणा,
सन्मानेन ददन्तमथमतुल छेदऽस्य शूलीकृत ।
तद्वत्स्थानगुणादिलाभमनुयन् धर्ता परस्योत्तम , आत्मा० ॥५६॥

चारित्र न परत्र गच्छति सम जीवेन धौयादिव-
द्व्रव्यादरिव बालकाल उदियात्तारकार एतद्भव ।
अनेतव्रतचेतसा न च पुन प्राक् तद्व्रतेत्पाल्यता, आत्मा० ॥५७॥

दया दीनभवा भवन्ति धरणौ दैन्यप्रताता भयात्,
तस्यापुण्यमयस्य तस्य निपुण वर्षी च ससारिता ।
जन्तोर्भाग्ययुग प्रयत्ननिकर साम्य तु प्राण्यनिस, ॥ ८॥

संसार तृणसाधिते मुनिवर कल्याणकोटी भवद्
या ता नैव सुरेन्द्रसार्वनिनयो गच्छस्थितस्याऽनघे ।
ज्योतिर्निर तथा रविरिव पर ज्योतिधराणा मने, आत्मा० ॥ ९॥

ताताऽऽरधमम मुलेभय इह स्यादस्तिमाराधन,
माधुर्ये यतिनां तु वन्धमय शुभूषया माधर ।
न स्यात्तत् त्रयमन्तरा मतिमता योग्य सदेहागमाद्, आ० ॥६ ॥

आयुष्कस्य विभाव्य नाशमचिरात् कुर्यान् समाराधन,
सूरीन्द्रान् प्रणिपत्य सवनियमानास्त भट्टारकान् ।
साक्षीकृत्य जिनादिकान् पुनरपि प्रोत्साहयेत् सद्मने, आ० ॥.१॥

गच्छस्थान् सकलान् क्षमेत सशिशून् आवृद्धसाधूंस्त्रिधा,
जात यन्नतुवाऽऽगमवचोऽनाप्त्या चीर्णं तत्र ।
आचार्योचितवाचकान् समवृषान् शिष्यादिकान् सन्मना, ॥६२॥

जैनऽन्यानिखिलस्वपगच्छकुलगाऽऽचान्वृद्धान् मुनी–
ना च मायधि यद्गर्भे तनुवचश्चित्तैरनिष्ट कृते ।
क्षाम्यन्त्वत्र भवान्तरे कृपमनो न स्यात् पुनर्दुर्लभ, आत्मा० ॥६३॥

जीवा य भवाऽब्धमत्स्यसदृशा मद्भमलाभोज्झिता–
स्तान् क्षाम्येत् स्पृहयेच्च यस्त दुरित यन्नीयुराश्रित्य माम् ।
आयत्या न परिगता वैरस्य बुद्धिर्यया (त ). आ० ॥६४॥

जीवाना भवतीह पूर्वभवगो द्वेषोऽपि रागोऽपि च,
प्रत्यक्ष तु विना स्मृति गतभवद्वेषादिहेतूद्भवाम् ।
तद्वैरपरम्परा निबुध्य मतिमान् सर्वेषु कुर्यात् क्षमा, आ० ॥६५॥

नीतो दवेन युग्मी सुरमननसमात् क्षेनता वैरहेतो ,
श्वभ्राप्त्यायायुमनुसुरलघुना प्राप्य घासेति मत्वा ।
स्थाप्य केनापि नेद मनुन इह भवी क्षामण तद्विधत्ते, आ० ॥६६॥

लग्नेऽपि प्रभुताधरे जिनपतेजन्मयशोपाङ्गिना
मुक्त्यर्थं न तु वैरमाप चलन दत्यस्य गोपस्य च ।
पार्श्वस्यात्र्यजिनेश्वरस्य मतिमान् ज्ञात्वेति वैर त्यजे-दात्मा० ॥६७॥

पापाना परिहारमेव कुर्वता सर्वं जगन्मा च भू-
दु खाना भवन पद तु लभता नित्य महानन्ददम् ।
युज्यतेऽशचिन्तया न विदुषा वैर सततस्त्यजे- दात्मा० ॥६८॥

सर्वाङ्गिष्वविशेषत सुरमतिश्चेद्धारणीयाऽन्वह,
पीयूषोपमिता तदा कथममी वैरस्य पात्र विदाम् ।
सञ्चिन्त्येति विषोपमामरिमत्तिं जह्यात् समेष्वङ्गिषु, आत्मा० ॥६९॥

यत्रैक्षेत गुणाश्रमात्मसहितद् नम्रो भवेत्तत्र ना-
तम्चेन्मोदपद सुधी हितकर द्वेषेण किं दह्यते ।
मत्वेतीह सदा भवेद्गुणपदे वैरस्य नाशे यत , आत्मा० ॥७०॥

जीवा सर्वमिदान्विता निजनिनाऽदृष्टेरिता सस्तृतौ,
चित्रा योगसमुद्भवा विरचयन्त्यात्माश्रिता चेष्टिताम् ।
फेषाञ्चिद्दूषितचत्ता न सुभगा किं तत्र वैरेण भो , आत्मा० ॥७१॥

पृथ्व्याद्या विविधा स्वशासिहननादीना पनाना वश,
नीना येऽत्र जनौ पुरा भवगतेनाज्ञाननिश्रामृता ।
तैर वैरवमुग्य पापसदनम्याऽस्तु व्ययो दुष्कृते, आत्मा० ॥७२॥

लोमाद्धाव्ययुताद्भयाच्च यदसत् मिथ्या मृषा मयुत-
मन्ने मवभजोऽर्धि परिगतो भूयाद्वथा दुष्कृतम् ।
द्रव्ये क्षेत्रमलोऽलोकविपत्र कालाम्भभावेषु च, आत्मा० ॥७३॥

माद्य धार्यमदत्तमात्तममर्ति त्रिला मया यद्भवेत्,
तत्सत्र विदधामि दुष्कृतपद मिथ्या शुभेनात्मना ।
प्राणा यत् नहिरथजातमसुपु प्राणप्रदोऽयम, आत्मा० ॥७४॥

तैरश्च सुरज च मर्त्यनरनुपो यत्मम्भवेन्मैथुन,
यत्तत्साधितमल्पितात्ममतिना कामान्धताधारिणा ।
तत्सत्र परिहाय्यतापदमद आत्मार्थत प्रापये- दात्मा० ॥७५॥

दुग्गाना खनिरेप यो बहुविध सङ्गो धनादिमहे,
नातोऽन्यज्जगतीह जन्तुविपय दृश्येत सदुःखभयम् ।
तत्सर्वं परिस्यतापन्भयेत् सङ्गो धृपाङ्कश्रिता, आत्मा० ॥७६॥

ससारस्य मतो महान् परिकर क्रोधो यतस्तद्वशा-
च्चक्षुर्नैव हिताहित विमनुते दग्ध सुदर्मि श्रित ।
जीवे तापकर त्यजामि समद त्रिला सदाराधना, आत्मा० ॥७७॥

यगम्य नितयस्य य प्रतिपद घात विधत्ते मद,
आचार्यादिगत भनक्ति विनय चालान् समुत्साहयन् ।
त सर्व विनयामि सत्पथगत शृङ्गाष्टकै सन्नत, आत्मा० ॥७८॥

माया नागीव नित्य परदररमणा जीवितान्त करोति,
चारित्र पालयन्तो मुनिवरवृषभा ग्रन्थमायान्त्यमुग्धा ।
मल्ल्याद्यास्तत्त्यजेत् ता मुनिवृषभ इतो मार्गमार्यैशहन्य, ॥७९॥

लोभ सवगुणोज्झित स्थितपद यो याति सूक्ष्माङ्कित,
यावत्सद्गुणधारण मतिमता दुश्छेद्यभूमि गत ।
त सत्र परिहृत्य सयमरता मार्गेऽधुना सस्थित , आत्मा० ॥८०॥

राग प्राणभृता स्वरूपरमणप्राणापहारे पटु—
र्यद्वशो गणयेद् विपर्ययमतिर्नोह्य पदार्थं निजम् ।
माया लोभयुता विशेन्च तनुमाँस्त्यागस्य धामेप तद् आ० ॥८१॥

इष्ट ह्यनुपस्थित स्वहृदये दृष्ट्वा समुद्भावयेत्,
प्राणी द्वेषमनन्त स्वरमणे बरानुबन्धप्रदम् ।
रूप क्रोधमदात्मक प्रकटयत्तत्तसतस्त्यज्यता, आत्मा० ॥८२॥

रागद्वेषवशाकुला प्रविकल मज्जन्ति बोधादिव,
हित्वा साध्यमनर्थकारिकलहे सत्रस्वनाशे रता ।
तन्नैव श्रमणस्य दातुमुचित स्मिन् प्रवेशो बुधै , आत्मा० ॥८३॥

रागाद्यात्तमना सदा प्रयतते श्रेष्ठे मते सद्गुणे ,
सत्यान्यै परिपातितु गुणपवाद् दोषैजनाना पुर ।
अभ्याख्यानमुदीरयेत कटुफल तत्सनदाऽस्त्यजेत्, आत्मा० ॥८४॥

य गक्ता न हि शुद्धमार्गगमनेऽन्यान पातयालुम्नत ,
प्रीतिं सन्नरगोचरा विळयति प्रोन्याहृत यद्वचम् ।
सत्यैशून्यमिद सतामघपद त्याज्य सदात्मैपिणा, आत्मा० ॥८५॥

इप शोकयुत समैति कुमतिरर्थेपु जीवेतर-
प्यज्ञानान्धतया स्वरूपरमण विस्मृत्य भोगातुग ।
कर्मानुगणमेप आत्मनियत पश्येसदतौ त्यजे- दात्मा० ॥८६॥

धर्मार्थ न यतेत यो निजगुणभ्रशात् परास्यैकदृक्,
सोऽन्येपा यदतीह दूपणपद सत्य तथा धाऽन्यथा ।
तद्वर्यं परिवान्न परगत सद्भि मदा निन्दित, आत्मा० ॥८७॥

प्रायेणोद्यत जादरेण वितथ मुग्धान् परान् वञ्चितु,
तत्सत्याभमुदीरयन्ति मनुना माया प्रयुज्याप्रत ।
विश्वमाङ्घ्रिविनाशने पटुवर मायामृपा तत्त्यजे- दात्मा० ॥८८॥

श्रद्धत्ते ननु पापधामनितर्ति हेयाच्च मच्चेतसा,
य स्यादूर्नितमानसो जिनवच पीयूपपाने रत ।
मिथ्यागल्यविनाशनम्नत इद व्युत्सननीय बुधै , आत्मा० ॥८९॥

पापस्थानविरक्तचित्तलतिको भूयान्छिवाभ्यासितो,
हत्वा दुर्गतिकारणानि मतिमान् सद्धयानसिद्धिं श्रयेत् ।
रक्तोऽनादिभवेपु तत्र न हि तत्त्याग विना श्रयसी, आत्मा० ॥९०॥

यत्राऽऽत्मा नितरामुपैति मनन न हन्ति मे किञ्चन
नैवान्यस्य जनस्य सयुतिकरोऽह किन्तु मिश्र स्वयं ।
आ मान विनमेकमेव मनुते शश्वच्चिदात्मन्नि, आत्मा० ॥९१॥

संसारे भ्रमता कृता बहुविधा मयोगसार्थो पर,
प्राप्ता दुःखपरम्परा प्रतिभव जीवेन कर्मान्तनात् ।
ज्ञानाढ्य निजमेत्य जीवमधुना सर्वां त्यजामि त्रिधा, आ० ॥९२॥

संयुक्त भवनारिधानसुमता जात न मैर्वस्तुमि-
स्तत्सर्वं स्थितमेवमेव न पद जीवानुग मेत्य हा ।।
ग मे शाश्वतरूपमेत्य रुचित ज्ञानादिरूप शुभ- मात्मा० ॥९३॥

ये केचिच्छिनकर्मपाशपतिता भ्राम्यन्ति लोकेऽसव-
स्ते सर्वे क्षमयन्तु मेऽमतिकृत निःशेषमाग पथि ।
स्थित्वाऽहं क्षमयामि वरमधुना त्रिध्य त्रिधा यन्नग , आ० ॥९४॥

प्राग्न मार्जितपुण्यभारसहित भुञ्जन् जिनाह्व त्वय,
गर्भे जन्मनि दीक्षणेऽन्त्यनिधि च प्राप्तौ शिवस्याखिले ।
त्रिधे सातमुदीरयन् शिवपथोद्देशयत्र मेऽस्तु प्रभु , आत्मा० ॥९५॥

यैरष्टादशदोषसन्ततिरल मोद्वेष्टिताऽस्माश्रयात् ,
प्राप्त केवलमुज्ज्वल सुरपतिव्रातन पूज्या सदा ।
मोक्षान्ता कथिताथशुद्धविभूति सकृपाय तैनाथता, आ० ॥९६॥

कृत्वाऽभावित आत्मनि श्रितमिह कर्म घन भस्मसा- ,
द्वामाद्या यदबोधसौख्यबलदा शक्ति स्वरूपात्मिकाम् ।
सिद्धास्ते जगदुत्तमा शरणदा माङ्गल्यकारा सदा, आत्मा० ॥९७॥

सोपाध्यायमुनीश्वरा गणिधरा मोक्षार्थमाप्तु यता ,
सान्नाय्य भनिधित्त (चीण) धर्मविधिषु प्रत्यक्षमाविभ्रते । ~
श्रद्ध न शरण च मङ्गलनिधि पान्ति तेभ्यो नम , आत्मा० ॥९८॥

धर्मो यो जिनदर्शितोऽव्ययपदं नेतुं जनान् य क्षमो,
यद्धर्मात्स्वर्ग कपेण सहितश्चित्तापयुक्त पुन ।
जन्तुना हितकाङ्क्षी भवतु सोत्तमोऽस्वना मङ्गल– मात्मा० ॥९९॥

धर्मोऽयं भगवत्प्रियानुरक्त लब्ध मया शासनं,
येन स्यात्पदमग्रयुता निरसुखं सत्सुखसारकम् ।
निपम समनीतिराञ्छित यथास्यया स्यान्छिर– मात्मा० ॥१०० ॥

धन्यास्ते मुनयः समेत्य जिनपस्य वरं शासनं,
प्राणान्तोपनिपातनेऽपि न नष्टं धर्मपत्रविशाम् ।
मुक्ता कर्मविनाशनात प्रवर्तिताऽसुन्वन दीपण य, आ० ॥१०१॥

धीरे स्यादिरवर्दिदाह्ममहत् श्रीनमिदिष्यो गतो,
यालोऽपालपरायम शगुरत प्रतालय सस्थित ।
निर्वाणं जिनराजसार्वितमगात् क्रोधाग्निशाम्युत, [illegible]

धन्यास्त मुनयो नमामि चरणाम्भोजयु तेषां म–
कोना पञ्चशता सुयन्त्रपीडिता ये सिद्धिमापु [illegible]
मन्य ये विनिदुर्मिदामतिशयात्मात्मा नयोगाऽ [illegible]

धन्यो येन समाहितात्मविधिना कृत्वा [illegible]
लब्ध्वा केवलसंविदादिविभूतिं हत्वा [illegible]
क्षणेऽभेतरदुष्कृतावलिमिता सिद्धि शिव [illegible]

अन्त्ये योगनिरोधमाप्य विनहुय [illegible]
श्रेण्या प्राप्तचित क्षपकं निचय दृढ [illegible]
गुरुश्चौदारिकमुख्यकायनिचयं [illegible]

गत्वा शिवमागमेत उचिताकाशप्रदेशान् विना,
नान्यानाशाग्रदेशसंश्रयमगुर्येद्वाऽस्पृशन्ती गतिम् ।
आश्रित्याऽगुरुलाघवशाश्वतसुखं सिद्धान् सदा तांश्रम,
(सिद्धेभ्य एभ्यो नम ,) आत्मा० ॥१०६॥

येषामूर्ध्वमलोकघातिततमाऽस्थाद् पूर्वयोगाद्गति ,
कर्मासङ्गनभस्ततोऽप्यजनिता बन्धच्छिदो घाऽऽत्मन ।
स्वाभाव्याच्चरमुरयनन्तुगिहे यद्वा मदेभ्यो नम , आ० ॥१०७॥

गर्भे जन्मजराऽऽधिरोगनिचया नैषा भवेयु पुरो,
निर्बाध स्वतवाल्मानमपगवृत्त शिव शाश्वतम् ।
धामाप्येव जिनोदितान् स्वरमणाचारित्रतो मार्गग-
तमारामपद स्मरामि नितरा चारित्रमत्युज्ज्वलम् ॥१०८॥

मत्वा चारित्रगुप्त्या भविजनततये धारणायात्मशीष,
प्रत्नैविना ददामि प्रतिपदसुभगा लघुमप्यामवस्थाम् ।
तनावाप्नोमि शश्वत्सुखमयपरमानन्दधामेति याञ्चा,
दृवाना सद्गुरूणा सुविहितयतिना सत्फलाऽस्तु प्रसादात् ॥१०९॥

पूज्याराध्यपदाना नवक जीवादीना नवतत्त्याऽस्तु ।
पञ्चस्मत्र महाव्रतनद्ध चैत्यादीनि च सन्ति तु सप्त ॥११०॥

इत्त साधुर्धर्मा रत्नान्याप्तु ज्ञान दृक्चारित्रे ।
इत्यपा गीता जैनीया षड्त्रिंशदध्यायसमेता ॥१११॥

---

नरभवनिस्तरोऽसमफलविसेरो भावितभावो गतदौ स्तुत्यो,
नम्रशिरस्को विगतरनरको भवति त्वम्दुभजनमता ॥५॥

चलति जिनेश सुरपतिवितताद्रासनात् सिंहयुक्तात्,
भविजननिचय हतवृजिनचय देशयँस्तीथमार्गम् ।
गणधररचिते विविधनयुत शास्त्रवृन्दे विधातु,
तीर्थोनुज्ञा पूजाऽनुणा न्यायनागमोक्ताम् ।
( प्रोत्थायाऽर्हन् नियमनुज्ञधदासनात् सदधान ) ॥६॥

सुरेशा नरेशा जिनेशा न सत्र, सुमर्न्नतालामिहाचयन्ति ।
अनुज्ञा पर वस्तुमिहागमाना सदैवाद्रियन्ते गणेशिवपूजाम ॥७॥

दवो गुरुधर्म इति त्रय जने भवाम्बुधेर्निस्तरणाय योग्यम् ।
तदैव चेदागमनाद्गुनिरस्त प्रतिक्षण सस्तुतिवृद्धिकारि ॥८॥

पूजा जिनाना शमिना सपर्या, धर्मस्य प्रस्तिर्भविना शिवाय ।
सा चेद् भवेदागमगण्यवेक्षा, नो चेद् भवाना परिवृद्धिकर्त्री ॥९॥

एवदेव दुष्पमास्जलायित, कर्म वा पचेलिम भवद्विपाम् ।
दर्शितार्थसम्भवो यदेव ते, क्रियते सुकृतमागमादर ॥१०॥

पूजा जिनेश ! भवतो भविना कृता सा,
सम्यग् ( सेवा ) भवोदधितरिर्भवतीह जन्तो ।
सामायिकादिसुकृताचरण ( महाफल ) शिवाय,
चेदागमोक्तिपरमान्तरमाप्यतेऽत्र ॥११॥

साम्राज्य जिनशासनस्य न भवेदभ्यर्चनादृक्षता ।
सूरीशा सतत महादरहतेर्नो नैव चाहन्मते ।

मोक्षायप्रभवैव त्वागमगणात् छिन्नद्‌गमाच्चलात्,
परन्तु श्रीगुरुगम्य आगमगणात् सद्‌बुद्धिरन्योगुणात् ॥१२॥

मापि त्वद्गुणा जिनप ! गमिता संसेवनं सादरं,
तीर्थोन्नितेर्हेतुधर्मस्य आमद्रजगद्भागतम् ।
विश्वसत् सकलं भवसत्पुर सदागमानां सव,
पुणाभेसन–सविध यदि भवत् पुर्ना अनुकूल्यम् ॥१३॥

कथ होय पुन तव सुपरित दोषविकलं,
कथ स्वात्म पूर्णमय जिन ! गताह्ना शमरसा ।
कथ ते मोक्षाध्वप्रगुणगौरवमुदितं,
न चेदृशा गुप्ता भवति भुवने ह्यागमततिः ॥१४॥

हाम्यावापि जने घन मम विभो ! सौम्य पर दृश्यता–
मात्तो धन्विपकल्पकाल्पनितो निष्पत्तये भमणाम् ।
त्वल्याऽध्यप्रमुखार्पणार सुनियतान् ह्यातेयतीर्थ्यान् श्रितान्,
मेने नागमसन्तति प्रमयथि श्रीदृशाममोक्षाध्वने ॥१५॥

अध्यमोतद्विदुषा प्रबोध्यने, यद् भाह्यतामेति समक्षमूढितम् ।
मूर्तं चिरातानतर समाप्रपंस्त्यां किं मनीमि निनशागममा–
धन्वियत (यधिन) ॥१६॥

न्याय मानननीन एव विदितो यद्दीक्षिते बालके,
नदयन्नौदरिये रुचिमतिमता ज्ञाडम्बस्य जातादरा ।
सत्त्वि सार ! मया जगत् सुविदित सौख्याकर सूज्ञिन,
हा ! ते ह्यागमसन्ततिनं च मता पापात्मनाऽधीमता ॥१७॥

ारा जगत्या किल साम्प्रतेभिणो, धरन्ति सञ्ज्ञा खलु दीपकालिकीम्।
साफल्यमस्या विदधाति विद्वाँस्त्वदागमोद्बुद्धभविष्यदर्थ ॥१८॥

कथं लब्धो देव: प्रशमरसतोऽप्राप्यशिवग,
कथं सूरि श्रेय सरलतरमोक्षाध्वधृतये ।
कथं यस्या यामा भवजनिमतेद्रु खहतये,
न चेत्ते साक्षात् स्यान्निरुपमवृतिर्ह्यागमगता ॥१९॥

तोर्थ तीर्थ जिनाना न तु जिनपतय किं न दुष्प्रोक्तिरेषा,
मान्या सा सर्वमान्यै स्वरमुदितचरी श्रद्धयाऽप्यागमानाम् ।
सत्य सौर प्रकाश प्रभवति अनता ज्योतिषेनैव सूर्यो,
नैषा सूर्यस्य हानि स्वप्रभवतुपमया तद्वदाप्ते स्वतार्थात ॥२० ॥

सुविदित खलु सज्जनसन्तते-र्यदयम परदोषविकत्थनम् ।
तदपि नश्चिर नहि चेद्भवेत्, भवति सत्पददाऽऽगमसन्तति ॥२१॥

न्यायो यदप जिन! मानभर स्वबोध,
यत्तेन बाधितमर स्वहिताय अज्ञात् ।
नाथाऽऽगमावलिरसाञ्चितचित्तभारो
लङ्घेय मोक्षपदलीमनात्वह सम् ॥२२॥

मत्तो जनो न जगताह समीहयकारी,
यत्सोऽधिगच्छति पदार्थमवेतमानम् ।
सार्वागमोक्तिरसपानविमुग्धचेता,
वेत्ता जगत्त्रयमिति प्रबल न मानम् ? ॥२३॥

नगति जीवनजातमहो! मत, प्रतिक्षण विशराम स्मार्दितम् ।
सव जिनागमसञ्चितसयमै, प्रतिफल पदमाप्यत उत्तमम् ॥२४॥

जिन ! त्वदागमा मया विलोकिता न सौख्यदा,
यतो भया अतीतभाविदुःखभावसम्भृता ।
प्रदर्शिताम्नये पुनरुदास्पदं मते यतो
निरूप्य तान् पदं स्मरन् आगमस्य समाधना ॥२५॥

मता जनोऽयं जिनराट् ! सदागम-पारदर्शीनो न यदि न धाम ।
जानन् हि तत्त्व मनुज यदाम-त्रिकालवत्त्वा नहि साम्प्रतेऽपी ॥२६॥

जिनागमाना महिमोद्भवाय, नया श्रिता या त्वमगम्यदर्थम् ।
सम्मानिहार्य, रचिता गुरूणा, गताघमाना जिनराट् मथापि ॥२७॥

मता गणधा जिनराट् सहामी, गारम्भभावान्वितस मुनीन् यम् ।
विलङ्घ्य निवृत्ति पुरुमार्थं रमाहर त्वागमज परं धर्मम् ॥२८॥

विनन्दा मन्दुम्नद्धलावर्ति मन्त्र जिनाग्रा जगतीह दीप्ता ।
पर मिसकारकृतनम्भादौ, नमा भणन्तीह सदागमता ॥२९॥

नार्हन्त्य महिमास्पदं मम जिन ! जित्वाऽमरीमद्गणा,
नराऽनन्यसमा श्रिय श्रयसि सम्यक्त्रिमार्गुद्भवाम् ।
नयानङ्कगण दूराजिरचनाल धर्मनिघोद्भव,
किन्त्वपाऽऽगमस तनिगननला साक्षाद् सुधाता कृता ॥३०॥

मद्र् मन्दु प्राप्तमिद यदाऽभिप, त्वया जिन प्रोदितमयमेन ।
सदनर्घमात्रमिहापर्यन्त्य, सर्वागमानां प्रभवो विगीत ॥३१॥

प श्रान्त्यमावत्तसुपविचासो, जीवा भव तानयतोऽप्रभाया ।
अज्ञानभावेऽपि सदागमा य, फलान् मनुयार्थेष सतत्त्वरत्ता ॥३२॥

रत्नत्रनामप्रतरा अमी खलु, जीवा यमाश्रित्य समाश्रितस्त्वम् ।
नामेय द्रात्मार्थं त मर्त्य रजन्त-मथा विद्याग्रम इष्टदायी ॥३३॥

कृतघ्नता-बुद्धिधरान् समस्तान्, जीवान् भवात्तारयितुमुदक्रम् ।
अभावयत्नुत्तमसत्त्वधारी, सदागमोऽस्य सतत प्रवृत्त ॥३४॥

सदागमाश्चैव सदागमा भुवि, कृतघ्नता ये भवभावभाविनीम् ।
भिन्न्त आशूपगता नराणा, सदा सदानन्दपदाय मग्ना ॥३५॥

अतितरा ननु नैव विराधितो, जिनपतिस्तनुते त्रिविधा व्यथाम् ।
करणयोगभुवा क्रियया पुन-र्यदि च (भवति) लेशत
आगमजो विधि ॥३६॥

विराधना या जिनराजराज्या, विशोध्यत सा गुरुनोदनार्थै ।
पर विराद्धा विशदाऽऽगमाऽऽज्ञा, भव दुरन्त तनुते समेषु ॥३७॥

जिनोऽपि सार्वो निखिल विदन्नपि, प्रसङ्गप्राप्त निरवद्यभावम् ।
साधुप्रजोद्धारपद न चानु-जानाति चेदागमवाग्-विरुद्धम् ॥३८॥

यन्पि केवलमुत्तमता गत, निखिलबोधकता न परे यत ।
तदपि नन्दिपद जिनपागमा, क्षणपद तत एत इहार्हते ॥३९॥

शुद्धे पद जिनमत भविना यदाऽऽदा-
यावर्त्तमन्त्यमधिगच्छति कालसौम्यात् ।
न्यायात् सदन्धकरणाद्रुचिरागमाना,
जागत्त्यहो! जनिभृता (भुवि तदा) धरणाऽसमा व ॥४०॥

नीति सत्समगोचरा ननु जने पूज्यत्वदान परे,
चक्री यत्कुरुते महोत्सवपर चक्र स्वक मोदत ।
सत्य तद् भवतारकाङ्क्षितपद भो आगमा शाश्वता,
यूय इत्थ जिनदर्शनेय इह प्रोद्दामपूजान्वितम् ॥४१॥

नर्ति नौमन्नमणुभिसागम, म्रवनरन्न पनन्तुग ।
मनु च नविद सुषमतां नया, नु हवान नागमना मिना ॥४ ॥

तेस्य गर्वा विन्नौ नु निवष तन पृथ्यर्न प न्नव
पूरा पन च रम्मा मनुग दर नुरे रननाया नयामम् ।
सहपमाजनमान मड़ा। मुनिनु नवनन पाऽत्री,
मीरि मनान् तर्तेऽननुर्णि नु पुमनुत्रांद्रना तार ॥४३॥

कान्यर्तिनमहन मन त्रिनद्भरणन
न मनवड़ुना दन पानग विनयमान ।
त्रिकाला अगस गु मनुप्रभावभावनं,
सहानमा नमगना त्रिनामनुवरणया ॥४४॥

कार मानद्भ्रम निनप । तव न्ना रिनु रनु
नृथी जनमान्व दन मनन्नवमृट ननुन्नान ।
ननाऽन्नन मान न प तय निनेनी ञाननि नु
नमुना दजिप नुन आत्रा मद्पगम् ॥४ ॥

मदागमा मन्ना न पु धममावन नुग,
त्रिना म,न मागत निननत इमे पुन ।
पन न नद्भन्ननायरूपधारका अमी,
सद्यमपना पना दधा आपरूपन ॥४६॥

धतालकार आद्दी मदागमावर्णमिमा-
मयापुरान्ना पन मद्रामनुद्धि पन्न ।
भिना विशुद्धिमार्गना धिनाय नम्ृि पन
गुणाविनोऽपि मदन्न वीनिशान्ना सपा ॥...

नरो भवेद्यदा पुनर्निधूतपापकश्मल ,
सुधमसाधनोद्धुरो विहाय कालमार्भकम् ।
श्रिता भवस्य यौवन तदा ध्रुव सदागमान्,
विचिन्त्य कार्यमाप्नोति मोक्षगामी च पुन ॥४८॥

ाम्यते समस्तधमवदिभि , स मानवो य आगम समाश्रित ।
ूपण परस्य शसने मत, यतस्तवो भवन्ति दृष्टिरागमी ॥४९॥

आस्तिक्य किं मत भो ! द्विविधमनुपम लौकिक चोत्तर च,
त्यादवुद्धिराय गदितमनुमय सार्वसूक्तागमेषु ।
नित्योऽनित्योऽपि जीवप्रमुख इह मतो मुद्रया स्यात्पदाङ्कया,
मोक्षान्तस्त्वागमोक्तेरिति मननमिहानुत्तर चोत्तर तत ॥५०॥

सम्यक्त्वचिह्नानि शमादिकानि सद्भि प्रशस्यानि सदैव चेद् हृदि ।
जिनेन्द्रदेवागमवासना-सुधो-क्षितत्वमीदयेत बलीय आप्तै ॥५१॥

शमाऽप्यनन्तेषु भवेषु चीर्णा, निर्वेदसवेगघृणास्तिताश्च ।
पर न जैनागमसस्कृत तद् , जाता ततो नैव ममाभिनिवृत्ति ॥५२॥

सदागमा भो ! कथमहणापद, गता सता वर्णपदादिसाम्ये ।
उक्ता जिनेन्द्रैरिति नेव तत् कथ, प्रमाणमित्यन्यपद न किं मतम् ॥५३॥

सदागमाना भगवान् प्रणेता, प्रघोष इत्थ न सुखावह स्यात् ।
उत्पन्न आप्तानु शब्दमात्रात्, न चार्थरूपास्तु वचो व्रजन्ति ॥५४॥

वक्ताऽर्हन् भुवि दर्शनाश्रयगतोऽन्याश्रित सत्यै ,
किं सत्य तदनुच्यत न पुरुर्वान्योऽथ क्व नो मत ।

महद्भिरुक्ता यदि तन्निरूपणरता शास्त्रा मन्यमानिधा ,
उत्कालं न तन्ना परपरगतिनाज्ञागमाना क्वचित् ॥ ५॥

सन्नागमा ! किं भवतां महत्त्व, तुरगशृङ्गाणि यथा न यूयम् ।
स्यायेन्द्रगेऽन्यरथानि यद्वत् निगाद्यमाना इति विस्मरीत्या ॥ ६॥

जिन गणि पूर्व श्रयन्ती नवी नपरं महातप ,
सुपुण्यराशिमाप्नोति च कष्टमाभयन ।
वचोति न मुच्यते सन्नागमानृतं ननु (भवन्मता)
यथार्थभाषमाननाकुर्यन्त इत्यसिद्धय ॥७॥

जैनत्वं ननु सिद्धमागममतात् सिद्धान्निशान साधुणान् ,
पाठकयुक्तमुनीन् समान्यरि भवी देवान् गुरूनादरात् ।
धर्मं धारयति प्रधानपदवीं प्राप्त सुम्नप्रसादिकं,
तत्सत्य क्षितिरागमस्य जनतानि श्रेयसे साधनम् ॥ ८॥

आगम आप्ततमो यदि विश्व, विश्वविदा प्रणीताधपरं स्यात् ।
न च हित्वा कपभेदतपैस्तु शुद्धि गोऽनुत आप्तपदं तु ॥८९॥

परभरकरणिननिभृतिहरणिर्निजमलभरणिनगति परा,
जिनपतिकथिता गणपतिदमिता मुनिततिविनताऽऽगमवितति ।
जनमनरात्त चरमावर्ते नियतमनात्त मानं तस्या,
मत्वा विबुधा आगमसुबुधा गतसम्बाधा भवत सदा ॥६०॥

शरण शरणं व्रज व्रज शरणं जिनपागममपहतमरणं,
हरणं हरणं वत वत हरणं सञ्चिततुर्गतदुरितततेः

॥ ३ ॥

धरण धरण धृणु धृणु धरण निजगुणसन्ततिसारमते ,
स्मरण स्मरण कुरु कुरु स्मरण (सरण) संवरनिर्जरमोक्षगुणे ॥६१॥

शुक्ल पक्ष निश्चितममल रक्षसि भवधारिणमसुमन्तम् ।
कृतहा परमसुखे यदिह त्वा–मागम ! याति निरम्य निर्वृत्तिम् ॥६२॥

शस्त सावमुखे समारी य स्यादागम ! तेऽध्वनि पाथ ।
प्राप्तो वीयमनाहतमन्ते भूत्वाऽतन्त्र शिवमत्येति ॥६३॥

स एव सम्यक्त्वधरोऽशतो वा, पापान्निवृत्तो निखिलाच्च जीव ।
सदागमा ! यो भवतामधीन , परो भवामेष्यद्विमित्यरूप ॥६४॥

देव गुरु धर्ममल भवन्त, सदागमाद्वीशरण समेत ।
रहस्यमत्वेन समेति चेन्न, हहा ! भवाम्भोधितल समेति ॥६५॥

शरणमेति जनो व्यथयाकुलो यदि पर परिवञ्चयति पालकम् ।
भविजनोऽपि तथैव सदागम, ननु भवन्तमपीड उपेक्षते ॥६६॥

अर्हन् सिद्धो गणपतिरुपाध्याय आत्तव्रतोऽसौ,
सम्यग्दृष्टि शुचिमतिनिपुण सद्व्रती सुतपस्वी ।
चेत्ते शुद्धागमरससुधयाऽऽढ्यो भवेद् भावभूति–
र्नोचेन् ससारकूपे पतत्यमनुगत ससरन्नीच (निन्द्य) रूप ॥६७॥

नयति नित्यमशेषविदा मत, परिणमेत् परिणामधर पुन ।
ननु सदागमपूर्णविदात्मता समूलनाश उपैति कथ हहा ! ॥६८॥

पाप न जातेवेति यत्र क्रियाया, गतिस्थितिस्थानसन्निभायाम् ।
धुर समेनीतरथाऽस्थेऽपि, पर विशुद्धागमसस्कृते हृदि ॥६९॥

है

मनागप्यौद्धत्यमुपागतः, यत्र मर्दितवस्तोऽपयोऽन्यधमा ।
प्रदर्श्य पूर्व निर्भिद्याह्निकं, पापकृषद्धिः सर्वोऽत्र विधे ॥७०॥

शासन विपदा च सङ्गतिं यत मत शरणं,
गृहे स्म परसत्रागि न तथा साफल्यभारमादते ।
तथापि शमने मत विगलित पत विपापमि पद,
नो जैनागम ! पुरुषा तव पद गेहाऽपगौ मुच्यते ॥७१॥

सद्गुण्यौ विदि यतेने नृविषाश नारुद्धो स्वामता
शैस्तृणमिवकामनाय न मयैवेपागमा शाश्वतम् ।
स्थान गुणपुंगवो परमनिय मधये पुद्धिलो,
स्व यद् मयजागमुपादित शेषलक्ष्मस्तु मम ॥७२॥

स्वामो लोमरत्ना भवतु प्रभुमते जेगीयते शनैः—
र्मन्निपघयत आहतागमसुधालाभे परा सन्मति ।
प्रसापानगिम्यान् विमुच्य परतो पुष्पेभ कोऽपि मुने,
पादो स्यान्नुर आदर भवतु भुवि स्याद्वादसुद्राङ्कितः ॥७३॥

भवतु भवतु भावागमव्याख्यादिष्टान्,
नहि परातभाव स्यादनादिविधेयः ।
इह परजनयोर्थ हेतुरस्याऽऽगमस्य,
न भवति भवतु कार्यं पारोक्षसूक्त ॥७४॥

वसुनदय विपागमवेदन यम्, स्यादकलहृद्यः निरस्तमपि ।
वित्रो विधिमत ईहागमदान तत्
अदेशनादिपयर न हि कुर्यं ॥७५॥

जागर्षि जनागम ! जन्तुजाते, बोध समेत क्रियया वितन्वन् ।
विघ्नपर्यायमुनि ग्रन्थि , समात्ततस्त्वत्प्रवीणैर्जगत्याम् ॥७६॥

बोधसुगानि पराणि मतानि, धिक्कृतसत्कृतमार्गगमानि ।
नाऽऽगम ! जगति नु क्रियया रहित , फलति ततस्त्व निवृत्तात्मा॥७७॥

सत्य चक्षुष्पदमनुकुरुते ह्यागमज्ञानमग्र्य,
जैन तच्चेद् निखिलपरिमत नैव चारित्रहीनम् ।
स्व दानाग्नेग्वति नियत य क्रियावान् स चक्षु-
र्दृष्टेताश्रु प्रतनुमतिकोऽप्राप्तसद्बोधवृत्त ॥७८॥

आगमा ! जगति यूयमात्थ यद् , वस्त्रपर्यय भवेत् सपुण्पयन् ।
ज्ञानमक्रिय नु तर्हि किं मुधा, खण्ड्यते क्रियात्र सद्व्रतात्मिका ॥७९॥

सदागमा ! भवद्भिरेव आश्रितो न यो भवे-
न्न यत् प्रजेद्विपादिता स सम्पदथको नर ।
न चेद्सदृश्यभागग निर्गोन्मेषमुद्धृत,
सदा भवत् समीक्ष्य किं सर्वोगमोऽत्र वो जिना ॥८०॥

न्यायखिलोऽग्गतन तुगणे प्रसिद्धो
लब्धा श्रियो भवति यो भवतीतरेद् ।
उल्लङ्घ्य त ननु सदागम ! ते प्रवृत्ति-
र्यत् खिन्नभावसजुषि श्रियमादधासि ॥८१॥

मयो पृष्ठे भारो य इह न मायात् स गल्गे,
निबन्ध्यो लोकैनादृतमिति लघुप्राप्तमतिना ।

स्याऽमाला मोग धनगतिजने न सिनिहिता,
दक्षे मोहाङ्कुरेऽन्नतिपुणा आगम ! नग ॥८२॥

मान्य किं स्तुत्या यदिह भवता च स्तुतिपरा,
भवान् मे याता ननु च विमर्दे तिमिरतरम् ।
न तथासार भो ! कथमपि न गत्त नयथ सग,
पृथापक्षो न्यागो यद्गु न तुपा दयगनत्य । (नयगति) ॥८३॥

मथा मान्तक्य द्राग जनान्नर्दगीरमपर्न,
यत्र गिद्वेष्णुद्धागमममतिति पूणपन्ना ।
विमवादो नैयानन्मतिपुरागम सुरियो,
पर नार नहिप्रहि च यिपयोऽन्नायममते ॥८४॥

महिमानममितमेति माऽऽगमात्निगाहती जन,
यतो हितोपदनानुमुद्गुनागुनह्महापरस्परविरोधनात् ।
जगति यीक्ष्यतां पर नारा तथेति तर्कवादकथनापरा,
यद्वया पर धयपुरुद्धुकना यतो न धवमाश्रय परस्पर विघातवृत्न
गताम् ॥८५॥

आगमपून्दमिद महनीय पूर्वमिहाहत्याधुरुपाद्,
मानमिहाम्य मव निपुणाना सद्गतवाक्यसुधामरसि ।
चेद् गतमानमिहैतद्पात्र तन्निनय न कथञ्चिन्छ्रय,
मत्या मयमिद गतमाना मनुन सदा गतम्यत स्वहम्गम् ॥८६॥

धैनन्यसाभान समनिनापतयो द्रव्यफाडाध्यमारि-
जीवादीन् मयभावामितपरिगतैः पर्यय ।

बुद्ध्या प्रज्ञापनाया पदमसममितान् बोधयन्तीद्धबोधान् ।
जीवांस्तद् द्रव्यभावात्मकमितरग्निहात्तागमीय श्रुत स्यात् ॥८७॥

शमोऽसम साम्यमुपैति चिन्वनात्, चेत्तन्द्धमोऽन्त्यफलोदय स्यात् ।
तथोह्न नैव सरागशास्त्रात्तत शमात्मात्मक आगम शुभ ॥८८॥

आगम ! उद्धर मा भवभीत दृष्ट्वाऽन्यत्र तव गतिमीदृग्
कश्चिच्छिनतमुत्तारयसि त्व त्यजति न यत्र मुहूर्तमनूनम् ।
कश्चिदुपार्थविवर्त्तभवान्तर्लीन कृत्वा तत उद्धरसे
चित्र काल तावन्त त्व फलसि विलम्ब्य कृपाऽपि द्राक् ॥८९॥

आगम ! तव सेवापर आत्मा चेज्जन्माष्टकमपगतभेद,
तद्भव एव भवेत स निवृत्ति पूर्णमात्मनि धत्तु हश ।
उत्कृष्टा यदि तां मुनिरीर्त्ते तद्भव एव मुहूर्त्तार्धवीरा,
भवसि तदार्थी भवबाधस्त्व कुरु मयि रङ्के लघु ता सिद्धिम् ॥९०॥

उत्साहस्ते निधातु परमशिवपद सश्रिताना नराणा,
तेऽप्याप्तु तत्सदोक्त्या भवभयनिधुरा साधन ते तथैव ।
कोऽप्यास्ति प्रश्वरो यो विफलयति समा सत्प्रवृत्तिं भवान्त,
हाहा शुद्धागम ! त्व मतितिमिरमरा भेद्य कार्य विधत्से ॥९१॥

या यत्यतेऽङ्गिनिचयो लघुसिद्धिमाप्तु,
शुद्धागम ! त्वमपि तत्पथपाटवोऽसि ।
सिद्धि पुनर्भविजनान् वरितु समुत्का,
भव्यत्वमेव विविध विविधा (तु निधि) निधत्ते ॥९२॥

चित्र भव्यगत मत श्रुतिधर्मस्य यमप्राप्तिा,
विदितैव परैन् कदाचिदभय दत्वा पर पारगम् ।
वैचित्य प्रणिधाय सिद्धिपदर्द सिद्धिजिनागमा !,
पुष्पानुपायमल चतुशरणमादरत्रा फलाप्ता यथा ॥९३॥

शुद्धागम ! त्व विविध विजाता यत भवन्त्या खलु जीव आर्दो ।
अहन् गणेशोऽस्त्वेतरागी वा, भविष्यतीति नियति विपत्ता ॥९४॥

गरस्वरूपोऽपि कथ विचित्रा, (विधसे),
सम्यक्त्वकाले हि तथाविधा जन ।
जिनेन्द्रमुख्ये खलु चित्ररूपे ,
फले फलन्तीमृ तुमागमक्रियाम् ॥९५॥

आदिष्टा विषय सदागम ! भवोत्ताराय ये ये त्वया,
व्यर्नांन्नान्निविलान् श्रयति भविन प्राप्तु शिव मोत्सुका ।
निर्वाण परम यथा फलतयाप्नि पुरस्ताऽऽश्रिनार्,
वैचित्र्य किमनहसो धृतमिहावस्तुप्रमाणात्परम् ॥९६॥

सन्गागम ! त्वत्कथितारा या इमे, दधाविर त्वत्कथि (दुगादि)
ताशयाङ्गिन ।
फल विचित्र विविधाद्धि कालाद्रस्य मदत्त्व ननु हा ! कथ ते ॥९७॥

सर्वर्विहीन न च तेऽसि रूप, मन्गागमेमे च विचित्रताजुप ।
न चान्यबद्धवेरनयाश्रितस्त्व, माहात्म्य धार्यञ्च कथ नु वाच्य ॥९८॥

समग्रधर्माश्रितवस्तुवाच: प्रमाणतामिन्यति वाच आप्ता ।
न्यागम ! त्व नियताधधम प्रमाणभागो ननु त विदा कृत ॥९९॥

भद्रायुतैनतु भवान् प्रमितिस्वरूप,
नीत, सदागम ! सदापि यथार्थभावात् ।
धपोगत प्रवरवारि यथा गृहीत,
नयण वयमिति सद्गुरुदीरयस्त्वम् ॥१०-॥

भवान्धिचक्रचक्रगोऽपि जन्तवस्त्वदक्षणात्,
सदागमा सदागमा भवन्त्यनूनसद्गमा ।
पर भवभ्रमाँह्घूनबाधबोधसङ्गमा,
व्ययन्त आप्यते यदा त्वयोद्धिता क्षरावलि (क्षितिक्षिति) ॥१०१॥

वाग्या न या सद्विदुपा न गम्या, योगीश्वताना न च नेत्रगम्या ।
चक्षुष्मता साप्युदिता त्वया वाग्, न ता स्तुते ह्यागम-
सद्गिर क ॥१०२॥

परापरागमेक्षिता न यावता निवत्तते,
परम्परागमेक्षिता न नाथ ! मे विवतते ।
परम्परागमोक्षित पद न तावताऽऽगमा,
परम्परागमाश्रयद्भिरङ्घ्यते न सस्मृतौ ॥१०३॥

जयत्यमनन्तगम सुगम, विन्धगिरिसिलाथविकाशगमम्,
वरसवरतिरमागपर, दुरितौघनिवारकसत्यधरम् ।
ननु सेतरजीवविबोधकर, स्वकसिद्धियुत परसिद्धिकरम्,
जिनराजमुखोदितवाग्यपर, नमताऽऽगममुग्रतर विबुधा ! ॥१०४॥

आगममुखमावदयकमन्य, सामायिकमनादौ सर्वं,
दृग्ज्ञानाऽऽचरणाना नियम, दापनमयपात्मकशमविषमम् (?) ।

त्रिविध त्रिविध कार्यं मन्ये-त्रैकालिकदुरितानामपहन्त्रे,
जिननायकपथि निष्ठो मुख्य , य स्यात्मा माचिकमतिसत्त्व ॥१०॥

नर श्लाघ्यो गुणनामाधिकोऽस्तु तु सम्यग्मनावदाधिकतर् ।
सापायदाऽन्न तद्गुणापक वस्तु किं न स्यात् मौलि परागमं न क ?॥१०६॥

स्वामसन्धी प्रवर हि मौक्तिक ददतु सार्ग विपत्माधिक नरम् ।
यथोपकारीह तथा मुनीशोऽन्यत्रिलोक शरण प्रणम्य
( पतागमसद्भीडाम् ) ॥१०७॥

प्राप्त चरण मण्डिता निरापा, नायो विहिता प्रतिभिस्पापा
( नेऽपापा ) ।
गिनिचार सन् गतन्य स्यात्, प्रतिक्रमागमतत्त्वसिद्धि
( सुर्याध्ययनागमतत्त्वसिद्धि ) ॥१०८॥

न चाऽऽगमा दुष्टनयाभियुद्धता, जने समेता कतिचित् पुरा क्रियाम् ।
आगामन्येष्वन्न उपरमतश्रुति यथोक्त साधर्मागमो मती ॥१०९॥

सन्तोषो नैव लाभे न च धननिचितौ सञ्जाता नराणां,
मोक्षे दान समेता न हि जिनवचनसम्पृक्ता यान्ति धर्मं ।
तद्वत् प्राप्तो वरेण्य शिवपुरगमन सच्चरित्र मुनीश ,
प्रत्याख्यानागमाय सततमुदितधी सवरार्थमुक्त ॥११०॥

जैनेन्द्रागम उत्तमो यत्र इहाहारादिचेष्टाऽखिला,
त्रियायाऽङ्गिदयां समस्तसमितीगुप्तीश्च तिस्रो वरा ।
तद्दशाकालिकशास्त्रवाक्यविहित मत्वा समस्त सुधा-
न पाठय शुभसाधवे प्रतदिनाम् समाधयन्ति स्फुटम् ॥१११॥

चारित्र विधियुक्त तत्रा शिवपदायाल भवक्षान्यथा-
ऽसौ शय्याक्षतिवाससा यदि परम नेपथ्येदृशणाम ।
ता चैरा वियुता न्शिष्ट् वरतरा या पिण्डनियुक्तिराप्,
तत्तामागमसत्यतत्त्वविदुषो घोषन्ति मूलात्मिवीम ॥११२॥

मान्या सदैव विधयो विदुषा विदुक्ता-
श्चेतोहरा यदि पर शुचितर्कविद्धा ।
ज्ञातादिभिर्यदि भवन्त्यनुरूपरङ्गा -
स्युरुत्तराध्ययनमागममाश्रये तत् ॥११३॥

हिंसानृतादीन्यशुभाधधामेत्युशन्ति सर्वेऽपि पर हि तीर्थिका ।
षट्कायरक्षादिविदस्तु विज्ञा आचारसङ्ग मनसा श्रयन्ति ॥११४॥

जाताया भूरि सम्पदीतरजनस्तैन्यादिन साध्वस
तद्वत्तीर्थिकसम्भव श्रुतिमतश्चारित्रिणस्तद् ध्रुवम् ।
अङ्ग सूत्रकृत तत गणधरैराचारसूत्रात् पर, (तत्तर्काङ्कितसयमा )
तर्काङ्क व्रतवादमागममिम विज्ञा श्रयन्तु श्रियै ॥११५॥

लब्ध्वा वित्त गतचरटभय श्रेष्ठिना गण्यतेऽङ्के,
सौवर्ण तत्र मुख्य गणयति तदितरार्थान् दशान्तान् सुदग्रान् ।
सङ्ख्या क्तु मनसि विधृतवांस्तत्तृतीय सदङ्ग,
स्थानाख्य ह्यागमाङ्ग प्रतिदिनमनघ श्रियते सर्वशुद्ध्या ॥११६॥

चिक्कणे चिक्खले (कर्दमे) काकिणीं वीक्ष्य वित्त ,
सदोद्धर्तुमीहेत तदानुबन्धम् ।
निहीत न चाधस्तदीय प्रतीत्य,

समाख्याति तुर्येऽङ्गशतान् समेयान् ।
समस्तेऽथ श्रेष्ठागम तं श्रयध्वम् ॥११७॥

आप्तो निर्मीक आप्तोऽनघरनकर्तति यो दृष्टान्यथजात,
सोत्तुङ्गस्ते पूज्यध्यागनमुन्तिमुपमस्य वृत्त सुशील ।
सद्वाद तद्वदागमप्रमतिनिपुण पञ्चमेऽङ्ग जिनेशा-
ऽऽचार्योनाश्रित्य सम्यग् नमत भगवतीमागम सत्प्रवृत्ता ॥११८॥

समेत्य यश्यान् प्रचुरान् सवानान्, श्रद्धान्वितांस्तत्र जनेषु शिक्षिम् ।
नेतु समाख्यायिस्या यतत, ज्ञाताकथाध्यत्र तदागमेषु ॥११९॥

आश्रित्य यश्यान् स्थितिमीयुषा परा, वृत्तान् सुनिश्चान् सुधीरातनोति ।
उपासकाना परमा समद्धा सेवोपमोपासक आगमे वुधा
( विदाम् ) ॥१२०॥

स्वरश्येन प्राप्त त्रिदुर्धविसरं पूज्यपदक,
तदुत्कीर्ति कुर्वन् जिनपरिकरं यत्ननिपुणम् ।
तदर्थं कुर्यात् स प्रगुणन्तद शुद्धपथग-
स्तथा व्याख्या पूजा जिनपविधिनान्तकृति तताम् ॥१२१॥

प्रवृत्ता मोक्षायाऽनघमतिवरा सद्व्रतजुषो,
गुरुत्वात् पापाना प्रभव इह नैराश्ययपदे ।
पर सत्यङ्कार निमलतरमाप्याचलपद,
यश्या ये जाता स्मृतिरनुपमाऽनुत्तरकृता ॥१२२॥

ज्ञान समस्ति निखिलाङ्गभृतामनून,
योगेऽत्र दुःखसुखयोस्तुमानरूपम् ।

प्रागबद्धस्मफल्मेतदिति प्रमिल,
सुखो विपाकमनुसस्मरतीह शास्त्रम् ॥१२३॥

पाप पुण्य च यत् स्याद् भविजननिचये निश्चयादाश्रयात्त-
द्बोध शास्योऽस्ति विश्वे श्रयति यदि पद मनरा मैकरूपम् ।
नागोऽपीष्टप्रदाता ननु तत इति वद्दर्णक प्रश्नपूर,
सद्व्याकृत्या मुनिपसमुदित श्रीयता धमसुक्त्यै ॥१२४॥

इ्थ श्रीमद्विनाद् मुनिपसुकृतिमिर्विश्वगाथप्रभास,
पश्चाद्ध द्वादशाङ्ग परिकृतिसहित सूत्रपूर्वानुयोगै ।
युक्त पूँश्रुतुर्भिद्दशगणकयुतैश्चूलिकैश्चित्ररूपै ,
साधो ! स्तौतुमुत्क समश्रुतभणक स्वागम चित्प्रसत्त्यै ॥१२५॥

श्रद्धा तर्कानुसारी श्रयति विधिगत यत् सधर्मान्यधर्मं,
ज्ञात षट्कायहिंसादुरितविरतियुर् तत्प्रसिद्ध्यै ह्युपाङ्गम् ।
तीर्थ्योऽर्हन् भागयुक्तान् विविधगतिगतान् दर्शयन्चामिम तद् ,
वन्दे श्री औपपात निननमनमहे ( सश्चित नूनमेप ) ॥१२६॥

श्रुतीर्थिक पुरा भवज्जिनान्तराध्वसश्रित ,
स नाकिधाममोक्षसौख्यसयुतो भवन् यदा ।
दश्यते तदा मुने परा रति श्रीआदृते,
राजपृच्छया युत ह्युपाङ्गराजप्रश्नक
( द्वितीयमाश्रये सदागम श्रुतौ रत सदा ) ॥१२७॥

जीवाऽजीवप्रमुख्यान् यदि च ग्हाभिधान् मतपदार्थान् शृणोति ।
साफल्य तस्य य स्यान्मुननपटुरित्युपाङ्ग तृतीयम् ।

जीवाऽजीवाऽऽस्रवमुख्याऽभिगमपदयुत यद् गृणोत्यथभक्त्या,
धविध्य बुद्धिगम्य द्विविधमुक्गत स्तौमि शास्त्रागम तम् ॥१२८॥

निर्णीना रक्षाविधिरतुलसाहसङ्ग तिपरा,
सुरत्नाना यद्वद् भवति च पर मोतविधिना ।
यथा मान प्रोते सुगमनिधिना रक्षणविधि,
तथाऽनन्ता ख्याता सुगमनिधिनोपाङ्गनिचितौ ।
( तथोपाङ्गे तुय श्रुतिधृतिपर सयमुदितम् ) ॥१२९॥

यन्नपि पूज्या द्वीपान्तरगा पूज्यगणा सुधिया शुचिर्यार्या–
स्तन्पि च जाता ये स्वद्वीपे पूज्यतरास्ते निकटतरत्वात् ।
तत्क्षेत्र महिमाक्षितिपान न्यायमनुस्मृत्यैव विबुधा ,
जम्बूद्वीपपदोपगताङ्का प्रज्ञप्ति महयामि मुदाहम् ॥१३०॥

भोगो रक्षा च विश्वे तनुगृहसिचयाकल्पतल्पादिकाना,
सस्कारान्छुद्धितश्च न तु समभिगते साध्यसिद्धिस्तथैव ।
ज्ञानादौ दुर्लभे तत्प्रतिनियतमिह प्रापिते साधुधुर्यै ,
सर्वं साध्य सुखेनेह भवति मनश्चित्प्रकल्पो रमेव ॥१३१॥

मर्यादा रक्षणीया ननु सुपथगतै पूर्वपुसु प्रवृत्ते–
स्तृण्या नैवाचि सिद्धाभक उदितरुचि स्वीयमेवाचि भक्ष्यम् ।
तद्वन्मोक्षाध्वनीहापितगुचिन्द्रयो वर्तते सूरिवृत्ते,
मार्ग दोषेऽप्रवृत्तो मुनिरुदितवृहत्कल्पसूत्र श्रयत् हि ॥१३२॥

शुद्धि पात्रानुसारा न च समविधिना नैव सवश्च सर्वा,
नद्वचारित्रपात्रे न सकलमुनिभिर्नैव चैवप्रकारा ।

सातोऽन्यानीव भवन्ति चिरा, रोगोपसर्गादिसमुद्भवा व्यथा,
भवद् धुरा साऽनशनादिना तवा, सहेत सत्त्व दुलमानवोचत ॥१४६॥

इना बुद्धिर्धर्म भवति सुपतो मानवभव,
पर नैदन्त्येऽशे भवति सुभगा स्याद् गतिरिह ।
दुराराध्यो धन्तो भवति सुगमश्चन्दकमिद-
मतो नित्या वित्तागममगुममेयादरपम्म् ॥१४७॥

नर कृतज्ञो गुणदृनतो पर, स्तवे परस्तत्स्तुतिदृष्मराणाम् ।
माग प्रदर्शाऽदमिष्टवाना, दवेन्द्रस्तुत्या स्मरणात् कृतज्ञता ॥१४८॥

क्षयादि कालादिकृत तु कमणा, प्रायाय बुद्धयाऽर्हमुदीद् गणी तम्म् ।
निया गणीना स्तुतिमहतीतो, बुद्धा न यत्साधनविप्रमोषा ॥१४९॥

सन कृत स्यान् सफलं मुनीना, समाधिमाराध्य मृतिं व्रजेयु ।
मेतान् स्मरत् तत्सुसमाधिना ये, स्तुत्यस्ततो यो मरणे समाधि ॥१५०॥

यद्यपि केवलमुत्तमसुत्त, तदपि न तीर्थपदाय समथम् ।
नन्दीश्रुतमिह तत्क्षममाप्ते-रुक्त नाद्यगे यथा वरनन्दी ॥१५१॥

व्याख्यात्रवग उदितो जिनमागगामी,
लोकोत्तरेतरविधे प्रभुमार्गमाख्यन् ।
द्वाराणि तद्विधिपगण्यनुयोगयुक्ति,
भव्यानुयोगकरणे स्मरण हि तेषाम् ॥१५२॥

जिनागमानां नितरागमाना स्तुत्योद्गमाना स्तुतिरासमाना ।
जीयाच्चया सिद्धगिरौ च सूर्य-पुरे शिलाताम्रपट जितौकसी
( ऽर्हदागमा ) ॥१५३॥

आम्नातोऽसावस्यावर्ती नरो भ्रमी पत्र गुरु,
इद गूढ़ ग्रहनु मरलेतर प्रथमागम् ।
सरसम्यक्त्वो प्रते इदसमनि मोक्ष गना,
इता जा ( दा ) ते सदागमसथ्यी ॥१५४॥

पापामयेषु परमौषधमागमोऽय, कल्याणकल्पलतिरोहमवारिधार ।
सन्देहसानुनिर्लयैकपविप्रमोऽय, मोक्षाध्वमद्गमकरो वरसाथ
याह ॥१५५॥

श्रद्धावानपि यो भवन्जिनपत मद्भावमत्योन्नितो,
जैनद्रागममसिद्धेऽनिचयेऽनाभोगतोऽसङ्गुरो (वाऽगुरो) ।

श्रद्धाया विगतो भवद् इत्तरश्चेन कल्पितेऽर्थ नर ,
मन्यम्यक्त्वसुवेषमागवलित सन्मागगोत्ती इदम् ॥१५६॥

गणधर पुरतो यत्कुरीदृत, नियदन निनदर्शनसद्मनि ।
निखिलभावविदा स गतोपमो, भविमतो महिमाऽऽगमसन्तते ॥१५७॥

श्रद्धेयोऽसौ जिनपतिगदिते ह्यागमे शुद्धदेशी,
मिथ्यादृष्टिर्भवति यदि वाऽभव्यनीत कुपात्रम् ।
तत्सम्यक्त्व श्रुतगणगदित दीपकाख्य पर स,
चेन्न ज्ञातो गतमननवरो ह्यागमोत्तान् पथो वै ॥१५८॥

जीवाऽजीवाश्रवाणा शुचितरमुदित बन्धने मदृतौ च,
पुण्य पापेऽपचाये दृतदुरिततते शुद्धनिःश्रेयसे च ।
ज्ञान मन्येत निश्चयन्ति भवति तत्त्वद् ध्यानमेकान्तदृष्टि ॥१५९॥

न इष्टो न विचो न च जगति धृत्ता तसरणि–
न वात्ता नो शब्दोऽणुरपि च यस्यास्ति विदित ।
न दृशो न वेधो न च परिकरस्याशसरण
यथ ज्ञेयो देवो यदि च न भवतीहागमगति ॥१६०॥

न यो द्रव्य दत्ते द्रविणनिचय नो न च गृह,
न योपा नो पुत्र न च शरणदो रोगनिचितौ ।
न यस्मातोऽरण्य न रुपति चरणे निम्नमपरा–
भव ज्ञाता साधुभवति शरण ह्यागमवलात ॥१६१॥

यो द्रव्य लब्ध्वा विचित्रविषयान् स्वातन्त्र्यमुत्सादये–
दाहारेऽपचिति रत्नैव गमयन्निष्कासयेत् कल्पनाम् ।
दाने शीलधृतौ तपस्यनुपमे सद्भावनाभावने,
भव्य धर्मवरो नुन्न् शरणगो मान्यो भवदागमात ॥१६२॥

मुक्तिर्नैव भवद् भवभ्रमिभृता कालादनादेर्धुरात्,
सत्य स्यात्तदिद यदा नहि भवनाशो ध्रुवाज्ञानग ।
भवेषा भवधारिणा विषयज सौख्य सनातादिज,
युग्म नश्यदुपेक्ष्यते यदि पुनर्श्रीजैनमार्गागमात ॥१६३॥

सत्स्वन्यसङ्ख्येपु सदा सुरेपु, तथैव तिर्यक्षु च नारकेपु ।
मद्दृक्षु तीर्थं न मत जिनेन्द्रैस्तत्रास्ति यस्तो जिनपागमोदिति ॥१६४॥

मोक्षे चतुर्गतिभृता प्रचुरा समीहा,
वीर्य च भूरि तनुवाग्हृदयोद्भव च ।
सम्यग्दृश सुमतयश्च तथापि न न
लब्धा न कोऽपि महिमाऽद्भुत आगमानाम् ॥१६५॥

शून्या सन्त्व गनयो न यतम्र आप्या',
सम्यक्त्वयोधयुगलेन, न जातु मुक्ति ।
एकस्य तत्र विमु कारणमुज्वल न
चारित्रमेव, यन्ति जिनपागमाऽऽयम् ॥१६६॥

संयम सदव सवरोद्धुरो, निनराणि नयनयास्ति तत्र वै ।
नैव मोऽस्ति संयमादरात, पर भवन्सौ जिनागमोद्धरान श्रित ॥१६७॥

क्षपण भवन तपन शुद्धता, यदागमाना ततिस्द्धरा धरेत् ।
तथैव सामान्यतमास्ति विज्ञैन्न चागमैरञ्जितमस्ति दशाम् ॥१६८॥

न्ये समेतान ममपर्ययान् य, श्रुगति ते मोक्षगमाय योग्या ।
सदागमास्तैर्जिनसूरिधर्मा, मत्ये सदा सेव्यतमा भवन्ति ॥१६९॥

अष्टौ वरे जैनमतऽत्र शासने, प्रभावकास्तत्र सदागमान् छ्रित ।
क्षान्तो भवेत प्रावचनी पर पुनर्विशेषका नैव तदुज्झिता खलु ॥१७ ॥

भाषाया समितिमता मतिमता वाचश्च गुप्ति परा,
य सव द्विरम भणेदपि नर शास्त्रोक्तवाचा विधौ ।
निश्चीभूय परो नरो यदि पुनर्नैरोशतीह क्षण,
नाप्यामू उदिते, सदागममतिर्भूयान्नर सर्वदा ॥१७१॥

आदर्शो नैव दत्त करणविधिगतो नैव नैषेधिकोऽपि,
शिष्याणा संयमार्द्रो जिनपतिभिरिहैका ततो मोक्षमार्गे ।
उत्सर्ग सापवाद जिनपतिकथित मोक्षमार्गप्रवीणा,
भव्याना स्युर्मदतद्द्वयनिगदपरो ह्यागम सुज्ञमान्य ॥१७२॥

निरागमा निरम्बरा जने पशूपमोहहा,
निरम्बरत्वमेव मागमाहत मुञ्चन्त आ ।।
त्यन्ति केवल क्रिया न चान्यतीर्थिकाम्पिु,
न चेषणा स्वागमास्तत श्रयन्ति चित्तमा ।।१७३।

यदाऽऽगमाना परमा विभूति–र्गीतार्थयत्नत्वसुधीश्रुती त्रिता ।
तन्त्रैव धर्म विजयोऽस्ति जैने न चागमे शून्यमिहास्ति शासनम् ।।१७

दिगम्बराणा परमेश्वरा इह लिङ्गाण्डयुग्म जनयद्धरन्ति ।
मयन्ति ते हास्यपद हि लोके, नेय न्यथा छन्नपद समागमे ।।१७५।

नग्नाटा रचयन्ति नादमहित यज्जैनराग नाम्बरी,
तियगवत् स्फुन्तोज्झिता ननु सनेत्याहुर्निरासागमा ।
ये तु स्वागमसश्रिता बुधवरास्त योनग्नोन्मानगा,
मन्वाना जिनराजमाहतमत सर्वोङ्गियोध स्तुयु ।।१७६

सामान्येन जनैमहाह्वितनिशीथोक्ता मता पञ्चमी,
ज्ञानस्योत्तमपत्रतामनुगताऽऽराध्या ध्रुव सत्तमै ।
चेत् सूक्ष्मेक्षित्वया पर यदि समालोच्येन विज्ञैगणे,
शब्दास्ते ऽशनिवेदिनस्थिति नयात् सा पञ्चमी स्वागमात् ।।१७

निनागमाना जितसद्गमाना, हताग्रमाना धृतसत्तमानाम् ।
सत्सङ्गमाना विमताधमाना, तनोत्वमाना स्तुतिमात्तमानाम् ।।१७

हत्वा विरतमिथ्यात्वाऽऽन्ध्य धृत्वा कर्मफल शुभम्माध्य,
हतकोटाकोटयधिक ध्यान्ध्य भित्वा मन्थिगत दुरितान्ध्यम् ।

रष्पा सम्यक्त्वं गतपाप्य कृत्वा मागगजनगुमसाध्य,
ध्रिव्यागममनतमुपगुणमस्य गत्वा न स्न शिवमपरम्यम् ॥१७९॥

सद्गम परतृप्ता भर्या च यदि प्राथचनिना,
पन्थर्योगेनोत्र निर्वतिमत माग्यवगतम् ।
सथार्पीष्ट तीर्थे प्रभुयरनसाक्षात्यनिपुणे,
यदि स्यान पुनस्त्यागमनतिगागेस्तदिलम् ॥१८०॥

साहत्य भनिता मदृष्मनघ यमकृष्पतीर्थं मदा,
स वेगागमगनम र्यदि भवन तीर्थोच्छिद् नैर वद् ।
पूर यत्नमल्पभन गणिता चैत्याधिवाना पुर,
सिद्धान्ताध्यनिरूपणा विदित तीर्थङ्करत्न मद्र ॥१८१॥

जिनन्द्र महत्यन्यद मन् त्रिकाल, विभूत्या मद्र न प्र ममसम् ।
निम्द्ध यदि स्यान्निने द्रागमैस्त कूपस्थैर पृढचे मस्कमदपन् ॥१८२॥

साधुयरोऽरु ध्यानधजिनमतगनो त्रिन्ते न,
थद्धाता सत्यमर्थं परमपदमनिसीभन वा मयात् ।
न त्यचे प्रभूता निनपविगदिग—
स्मीथ यत्सत्यनिष्ठ जिनकथितनिः सत पुनर्नासम् ॥१८३॥

जनेन्द्र शासन तुदितमिह निसिद्ध न धान्या,
यावात् स्याद् बन्धहतुर्भवगतिस्य भेत्री साधान् ।
धर्मद्वा त्यकहतुभवति परमिद्धेन मे,
प्रोषा यस्मादनेके निनपनिगदिते मा निढयते

३ १

लिखिताऽऽगमसन्ततिरिद्धनरा, देवर्द्धियुतै क्षमया श्रमिभि ।
अनुयोगतया स्कन्दिलमणिभि–स्तुतीर्थे भव्यजने सेव्या ॥१८५॥

श्रद्धावानपि शुद्धकायवचनो गुप्तिं च यो मानसी–
मत्युग्रा प्रतिपादयन्नपि नर सद्ध्यानगो वन्द्य ।
इद्धोऽष्टाभिरपीह बुद्धिसुगुणैश्चेतोहरो ज्ञानिना,
श्रौते नैव मतोऽर्हं आगमततेश्चेच्छ्रद्धया सोज्झित ॥१८६॥

व्याख्याता मुनिरिष्यते लघुतम शुद्धागमस्यापरै–
र्ज्येष्ठार्यैर्गुरुपर्ययैर्गुरुगुणैर्वन्द्य श्रुतोद्दिष्ट
अन्वाख्यातृपदोपगोऽपि सुमुनि (लघुमुनिरर) वन्द्य समै श्रोतृभि–
र्न चेत्तीर्थकराद्यलोप ( पलाप ) दुरित मत्वाऽऽगमान सश्रय

पार्श्वस्थोऽपि च वन्द्यतापदगमी ज्ञाने चरित्रे दृशो,
शुद्धाना जिनशासनाश्रयजुषा सत्सयतानामपि ।
चेद् व्याख्याति जिनागमानविन्तितान् सत्सयताना गणै–
स्तन्मोक्षार्थपरै सदा शुचितमा सेव्या जिनेन्द्राऽऽगमा ॥१८८॥

वर्षासु प्रत्यहो नो विन्तिमनिकृते देशपुयन्तरेषु,
सत्साधु सयमाय क्षितिजलमरता धूमयोनेवनस्य ।
रक्षाया सर्वदोक्तो यदिपरमपर ज्ञानिन प्रायमस्य
विस्वा छेद श्रुताना विहृतिमनुसरेदागमा किं न नव्या ॥१८९॥

स्मार स्मार जिनपतिजनितामागमाना सुपड्क्तिं,
कार कार तदुदितविमला सत्क्रियाणा प्रवृत्तिम् ।
धार धार गतिधृतिशयनोस्त्यासनेपूपयन्न,
लब्धाऽऽसङ्गा निखिलविदमितो निश्चयान् मोक्षगामी ॥१९०॥

क्षमादि सद्धर्मैर्दशविधमितैः मतिमितैः-
[illegible] सम्पूर्णोऽङ्गी [illegible] न शिव प्राप्तुमनघ ।
अथार्येनाथ शुद्धागमननिमतान् मोक्षमदने
ह्यनुष्ठान सम्यग्[illegible]निधर्मान्गुणाम् ॥१६॥

अपूर्व भूतिगति न मता नेमिनिमिता,
विभाव यद् [illegible] भवति पुन[illegible] ।
जिनाद् [illegible]द्भावो भवति गणिना [illegible]
[illegible] साक्षात्र नमनि [illegible] ॥१८॥

चित्र चित्र [illegible]गति [illegible]मत [illegible]
नित्य नित्य [illegible]पटुतो[illegible] ।
अहो साऽनन्तमात्रे समविद उदि[illegible],
मान्यो मान्यो हि [illegible] नियति [illegible] ॥१९॥

आगमा ह्यगमा पद्धतोऽत्र [illegible]
[illegible]तमागमनुसारिण [illegible] ।
दीपका ममता भवन न धारका [illegible]
यन्मत श्रुतधारिभिरत्र [illegible] ॥१[illegible]॥

यो नैरागमनस्यथो[illegible]
सम्यग् यो न [illegible] जिनो [illegible]
[illegible]

स्यादागमैकरसिको नर इद्धबोध-स्तत्त्व शुभ जिनगत ह्यपऽनुनिभत ।
ज्ञाता तदीयगुणमञ्जयशुद्धताया , स्यात्तत्र तत्र परमादरभाक् च नित्यम्

गुर्वाराधनतत्परा नर इमे साक्षात् सहस्रात्परे,
दृश्यन्ते शुभयोगनिघ्नविगमे यद्वादरा स्वल्पका ।
तेषा या परिसेवना सुविधिना साप्यल्पकाना यतो,
य स्यादागमतत्त्वबोधरसिक स स्यात्तथाचारवान् ॥१९७॥

यो ह्यागमपरतत्त्वमीक्षत इहानन्तोऽन्त्यभागागतो,
नाऽसौ पश्यति धर्मतत्त्वनिपुण शास्त्रेऽपवादात्मताम् ।
यावच्चक्षुषि वर्तते तिमिरक तावद्यथार्थो न दृक्,
तत् सुज्ञ परमादरे कृतमना शुद्धागम सश्रयेत् ॥१९८॥

सुपात्र यद्दान भवशतसहस्रेषु सुलभ,
न, जीवाना जातु प्रचुरतरपापात्तमनसाम् ।
यदा जीवे भाव प्रचुरतरपक्षैकसुभगो,
महादान लब्ध्वाऽऽगमततिरसश्चेद्धृदि भवेत् ॥१९९॥

अनन्त्यावसु प्रचुरतरसत पुण्यसुभग,
भवेद्दान यस्मात् सुरनरगत सौख्यमतुलम् ।
अल मोक्षार्थैक भवभयभृतामागममत,
महादान प्रान्त्ये सततविधिसत्पात्रसहितम् ॥२००॥

दाय दाय मुनिभ्यो विविधुतममल दानमाप्नोति सौख्य,
ध्याय ध्याय जिनाना निरघविधिपद यत् करोत्यागमानाम् ।

धार धार गुरुणामनुमतिममल भूत्वर्गीन वाचा
हार हार नरान्त्रिपदयुग सेवनीय महाद्रम ॥२०१॥

निता दीक्षाया प्राग दर्शि सा तु श्रद्ध,
सन प्रोक नाम्न जिनमहाशासनिनम।
यदि भिक्षा गुडागमवर्ति दातायते,
सम्ताद्धयर्मे तु महादानामन्न ॥२०२॥

मे दिनेषो सन्त धीमर्जिनपदपादर,
आगमधाक्यान मनुर्दाना दानादि (गुरुन) समादरे।
मदनुमानेऽत्येषोऽयथागमे परमादगद्,
धामायाध समाधुना भवदत एव हि ॥२०३॥

तस्त्या गद् तात जननी तनूनमिगाङ्गा
बन्धु भाति पुत्री पुत्र मित्राणि च सौहृदान्।
जान माजुनमापन्य फालादिविधातो,
जिनत सूरी चेत् मध्येऽनागमसन्वजिम् ॥२०४॥

पूर्ता सत्परमेष्ठिना यदि भवार् कुर्यात् त्रिसन्ध्य सदा,
पुष्पनैवरलाने गुचिनैर्मैत्रान्तिरा मर्यदा (त)।
सा चेन्नागमसङ्कता यदि तदाऽन्यायसम्परये,
नो चेत् सा परमार्थसिद्धिविफल दर्शान सुरादे सुगम् ॥२०५॥

ध्याने यो निरत शुभो मुनिगण साल्म्बने दुर्धिर,
ध्यानाऽसौ जिनसम्पद सुरकृता छत्रादिकामूर्तिनम्।
दृष्टो नैव जिनो न चाऽमरकृता शोभा प्रतिहारिणी,
मत्वाऽसौ जिनपागमेष्य उदितध्यानेऽसाल्म्बन ॥

मोक्षायोक्तत आहृत खलु भवेत् प्रीत पत्नथम्र्म,
पर्यायात्मस्ता श्रित प्रणिदधन् मोक्षो भवो नान्यथा ।
दु ख्येनाऽसुखरो जनो भवततौ शश्वत्सुख रत स्वदम्,
श्रद्धायाऽऽगमसन्तते परमिद युक्त सुधो मन्यते ॥२०७॥

साऽय सिद्धिपद सदा भवभृता नाऽयत्र दु खान्तको,
दु खामिनमपातसयुतमल प्रस्ताश्रितिर्यत्र नो ।
तादृक सौख्ययुत पद यदि पर नाऽयत क्वचिद्विद्यते,
निश्चेय पुनरेतदाप्तकथितान्छुद्धागमात् पण्डितै ॥२०८॥

नाशाब मतमस्ति सम्मतिपद विश्वासुखाना जने,
तत्राप्येक उशन्ति वक्तृरहित तत्कल्पितादीश्वरात् ।
एके रागद्विषादिमद्गतिपरान्म्यान्ति केचन,
सवज्ञोदितमागम यदि पर मुमुक्षुमुखा आहृता ॥२०९॥

सत्य शास्त्रमतास्तैर्नैरनरैस्तुल्य पर गम्यते,
व्याख्याता निजबुद्धिवैभववलाल्लोके यथाचायते ।
आरम्भे च परिग्रहे यदि पर मस्ताऽनृत ख्यापये-
द्वन्योऽसौ जिनपागमो निगदितो योऽस्त्विद्धनै साधुभि ॥२१०॥

पर जिनोक्तान्मततो विदूरगा वदन्ति भाव विगुण गतक्रियम् ।
परम्परानिर्गतशुद्धवते सपुष्पतुल्य न तथा जिनागमः ॥२११॥

अनेन गुणा कारणाम् स्वकीयात्, प्रजाता क्षणे नायमाप्य गुणैस्तत् ।
तथोद्भावने तत्परो नैव जैन, कथञ्चिद् भवेदागम शुद्धदृष्टा ॥२१२॥

द्रव्ये क्रियाया च गुणेषु नित्य, सत्त्व परार्थप्रतीतिनिवेद्यम् ।
समो ह्यसत्त्व परतीर्थिकाना, स्वभावसत्तोद्भवनो जिनागम ॥२१३॥

समवाय समवायो विदुपा परिपठनि कल्पितमवाये ।
निखिला गुणादयोऽर्थ, श्रितास्ततो नागमस्त्वेयम् ॥२१३॥

साधर्म्यं वैधर्म्यं, पदार्थधर्मा तथा मतिर्मातु ।
ममवेतमेकमन्यत्र तयेति जिनागमो नैरम् ॥२१४॥

तादात्म्यतो ह्यभावा , श्रिता पर वस्तु भिन्नतार्थयिण ।
इदमन्योऽन्यविरुद्ध, न वक्ति जिनपागमो जातु ॥२१५॥

यो म यस्य गतान्तरायतरमप्राप्त्यै निधत्ते बुध ,
शास्त्रे मङ्गलमादित म मनुयात् प्राग् जन्मतो नास्तिरान् ।
माङ्गल्यैकविधी नु तात नुद धर्माङ्कुरा नास्तिकान्, (?)
नो जैनागममाश्रित्त कृतगुण ध्यान्न स्मरन् मङ्गले न ॥२१६॥

यो नागमधाहग म मनुते स्रष्टारमुत्कर्मण,
जीवानामशुभ शुभ च नियत स्वर्गापमोक्तेश्वर ।
सृष्ट्येतन् प्रनियानमर्हति ननु शून्योऽस्य पुण्य न तत्,
मन्येताऽकृतसङ्गम कृतहर्ति ह्यन्यागमात्ता स्थितिम् ॥२१७॥

विन्ति विदुषा निचयस्य सत्ता, नहि कार्यं स्यात क्रियया रहितम् ।
मनुते परमेश्वरमक्रियक, समस्तपद न जिनागमग ॥२१८॥

मनुतेऽज्ञजमर्थसम ज्ञान, जगता परमीश्वर क्रीडते । -
रहित मतमुत्तमज्ञानमर न जिनागम एतमयुक्तिपर (द) ॥२१९॥

नाकारण कार्यमिहास्ति किञ्चि-दिति प्रवाग्ने विदुषां गर्णमत ।
तथापि जैनागमबोधशून्या अपितृक पुनमुदाहरन्ति । ॥२२०॥

न मातृशून्यत्ननयस्य सम्भव, आबालगोपालमितीह सिद्धम् ।
म्लेच्छा हि तात परमेश्वरस्य, लुम्पन्त आख्यान्ति प्रभू न चाऽऽगमा ॥२२१॥

इमे बाह्यास्तीर्थ्या कथमपि नहि प्रोतति विभो-
र्वचस्तपा कण्ठे लुठति फणिनत्मानरहितम् ।
सम विश्वे दृश्य भवति विभुत कार्यरहिता-
न्नीतीक्षित्वाऽस्य ना भवति नितरामागमरत ॥२२२॥

पर पदार्था उदिता विहीना , शक्त्याऽत्र नाथाऽस्ति विहीनशक्ति ।
नासौ क्रिया नैव गुणश्च नार्थो, जिनागमज्ञैर्व्यथित जगत्परम् ॥२२३॥

पदार्थाना चित्रा ननु च जगता शक्तिममिता,
पृथिव्यम्भोवायुप्रभृतिभावपु नियताम् ।
विबुध्याऽध्यक्ष द्राग् यतत इह तन्मतिमती,
तथा श्रित्वा सम्यग् जिनपकथिताऽऽगमगति ॥२२४॥

जाता नैव सचेतना न च पुनश्चैतन्यशून्या अपि,
येनानहविभागमाहुरनला पृथ्व्यादिद्रव्याश्रितम् ।
भूतग्रामविधानतो विधिरिह प्राणिष्वपि प्रासुने,
ह्यौदारादिविभागमाहुरमला जैनागमा सत्पथा ॥२२५॥

द्रव्याण्यनन्तानि भिदोऽप्यनन्ता, बोध्यानि सर्वज्ञपदोक्तिमानात् ।
तद्द्रव्य-तद्भेदविधानबोधो विरागसर्वज्ञनरागमे न ॥२२६॥

जीवोत्कर्मोद्भावितभूरिभेदा , क्षित्यादयो नाणुभिदोद्भवास्तत् ।
———मेन भिदानिरोध औदारिकाद्या बहुभिर्जिनागमे ॥२२७॥

अनन्ताः अर्थानां जगति निभिदो व्यक्त्यनुगता,
द्विशान्तज्ञास्या भवति विज्ञातमिति विदा ।
ततो ध्वान्तच्छायाप्रभृतिमद्द्रव्यपटुता,
जिनोक्ताना सिद्धा प्रमितिपदमाप्तागमवति ॥२२८॥

गुणान् पर्यायाश्चागमततिरिहानन्तगणिता-
नुवाच प्रत्यथ विबुधगण इत्थ मतिमयेत ।
शिशुक्रीडाप्राय परमततती मानमुन्ति,
न चाध्यगो याधो ह्यनगत इहार्ये कुमतिभि ॥२२९॥

द्रव्ये गुणे परिमिति न कणाद आह,
युक्ते क्रियाभिरनुगामिभिरित्यथार्ये ।
सोक्ता विचक्षणपदाय पराभिलापै-
र्नैषोऽस्ति विप्लव इहागमसम्प्रदाये ॥२३०॥

वैशेषिकेण निन्ति कथित स्वसूत्रे,
व्याप्यत्वधमसहशात्मकमथनातम् ।
नित्यादिषु प्रमुखधममुवाच शिष्य,
आप्तागमोक्तिविमुखेन विडम्बित, किम्? ॥२३१॥

साधर्म्यादिमते शिव कणभुजोऽव्यक्तादितत्त्वावनात,
साङ्ख्या, शैवसुगन्धिममतयो भक्तेश्च वेदान्तिन ।
विश्वस्वप्नममानतामतिगुणान्ताख्या निरात्मत्वतः,
उच्चुर्नीसूतरणे यथा मतिभ्रिये (गती) जैनागमास्त्वद्वयम् ॥२३२॥

ज्ञानानन्दविवर्जित खलु शिव वैशेषिका कल्पिते-
दु स्र्युक्तिमिहाक्षपादमतिकैर्नैयान्तिभिर्नैञ्जणि ।
मेल वैष्णवशैवशाक्तमतिभिर्दिव्यात्मनो सद्दय,
नित्यानन्दसुखाश्रय गतभय जैनागमाल्लब्धिता ॥२३३॥

पदार्थ मत्त्व यत्र च खलु पदार्थात्मनि गत,
स्थित तत्तस्मिन् यद् बहिरनुगतो बन्धनयत ।
इद मन्वानोऽय विदमभिगतेऽर्थऽखिलगता,
कणादोऽप्यक्ष सा न भवति इति स्वागमततो ॥२३४॥

मोक्षायाऽऽलिखिता शुभा मुनिवरैर्लोकोत्तरा पद्धति-
र्वाम्या चेत्तनुरक्षते रिपुजनै सत्कायते सौहृदे ।
श्रीखण्डेन, तथापि शुद्धमनस साम्य द्वयेऽस्मिन् भवेद्,
वैराग्याद्रसमक्षता जिनमते योग्यागमाना तति ॥२३५॥

समस्ता विद्वासो विदितविविधार्थोच्चयगणा,
न दवाद्यैर्नाथ मरणमनिश यन्निखिलगम् ।
न चानायुष्कोऽप्राणति विदितसर्वौषधिगण-
स्तथाऽप्यद्धी नित्य तदुभयमना आगम ऋण ॥२३६॥

लोकोत्तराध्वगमिता प्रतिना विशुद्धा,
यन्मोक्षमेव विविधक्रिययाऽऽप्तुमिच्छा ।
देवासुरादिसुखसाध्यपरा इमेऽन्ये,
कोऽन्यो वदेज्जिनवरागमतोऽपरोऽद्य ॥२३७॥

दुःख सरसुरासुरोरगगतान् मृत्योरसूना ; दृढ,
सौख्य पौद्गलजालसम्भवम् स्यात् प्रार्थनाया पदम् ।
एव कमनियन्धनैरविधुर प्राणी भवेऽटाटयते,
धन्योऽय जिनपागमो यदुदिता मोक्षैकमागप्रथा ॥२३८॥

हा हा! भीषणकाल एष न यत सत्यार्थदृष्टौ रता ,
सूर्याद्या प्रचुराश्च पुत्पपरावर्त्तोधिता वादिन ।
भूमीशा निधुधाश्च पक्षपतिता दाक्षिण्यलोमोद्यता,
अल्पा मार्गरतास्तथापि जयनानाप्तागम शुद्धवाक् ॥२३९॥

स्वनोपम वै सकल भुवनत्रय, वाक्य स्वकीय व्ययित निवेदयेत् ।
तथैव सर्वं क्षणिक निबोधयन्न चैव बाधन्त्रिगमागमे भवेत् ॥२४०॥

अतीन्द्रियार्थं नहि वेत्ति कश्चि-च्छित्र भवो वा न च वेदनीय ।
तथापि वदाच इय कुतीर्थिता, स्वोक्तर्तनं बाधाऽऽगम आप्तसम्मते॥२४१॥

सौख्य दुःख ज्ञान भ्रान्ति, पश्यन् प्राणिषु चित्रविचित्रम् ।
आस्तिको निश्चयापी वा-वक्ति विरुद्ध न तथाऽऽगमगी ॥२४२॥

चार्वाक पूत्कुरुते नास्ति, परभवगामी चेतनयुक्त ।
जातिस्मृतिदु साध्या विद्ध, आगममेनाऽऽश्रयते शरणम् ॥२४३॥

मान होक मतमध्यक्ष, श्रोतृव् शासन् न धरति लज्जाम् ।
शब्दाद्वाक्यनिरोध कुत-प्राध्यक्षेतरवागागमवाक् ॥२४४॥

# । मुनिवसन-सिद्धिः ।

वितथवादशिरोमणिता दधत्, विगतवस्त्र इद जिनशास्त्रगम् ।
अनृतमाह सुशुद्धसिताम्बरान्, विविधमोहमुदीरयितु स्यात् ॥१॥

गणभृता गदित सितवाससा, प्रथमशास्त्रगत जिनकल्पिनाम् ।
पदमधारयता सिचयावली, प्रथमसिद्धगुणा ननु नग्नता ॥२॥

वितथवाग्मिम गतवाससा, गतहृदस्तव मन्वत आस्तिके ।
कृतममन्यत नाप्तमत यकै-वचनमागमग श्रवणे सुधी ॥३॥

श्रुतमत जिनवीरविभोन किं, वसनधारणमब्दमुपाश्रितम् ।
अधिकमासयुत सुरनायक-प्रणतपादयुगम्य दिगबर ॥४॥

श्रुतसमुच्चय आग उदीरित, विमलसयमशालिजिनागमम् ।
सिचयमाप्तवरे प्रथमेऽङ्गके, कथय दिग्गमनोऽनृतवाग् न किम् ॥५॥

सुरवितीर्णमुपाश्रितवान् जिनो-ऽम्बरमिति प्रतिपादितवान् गणी ।
श्रुतसमुच्चय उत्तर आदिमे-ऽङ्ग इह साधुसमूहविराजित ॥६॥

जगदुरहदुपासनतत्परा, गणिवरा श्रुतसागरपारगा ।
वसनमानमुदस्तपरिग्रहा, मनसि बोटिक तत् ननु चिन्तय ॥७॥

गणधरा समवायधृतान्तरा, वच इहोदितवन्त उदित्वरम् ।
चरमतीर्थपतेर्वसनादता-वधिकवर्षमिति प्रविचिन्तय ॥८॥

इषुमितेऽङ्ग उवाच गणाधिपो, विपुलपवत आहतपादपे ।
स्थविरके खलु सम्थर आहती, समुचितापकृतिं ननु पश्य तत् ॥९॥

न च वचो वचनीयमपाकृत-नयचय निनकल्पयुतो वयम् ।
न हि भवन्ति तरे मिचयोज्झिता , सम ग्रन्थोपधिभिर्न्यविचित्रता ॥१०॥

न च स्वमत्र मुक्तिपद धृते, मुनिवरं शुभसयमहेतव ।
उपकृतौ क्षम उज्झितसङ्गमे स्वकृदयग्रभूतौ शिवसाधन ॥११॥

जनिरभूत्तव निश्चितमूढता, विशदवासस उत्तमसाधनात् ।
इतरथा कथमम्बरवर्जन, तव मतस्य रवे स्फुटमीक्ष्यते ॥१२॥

यदि पर सितवासस उद्भवमत्र मताद् वसनोज्झननतनात् ।
ससिचया इति सम्य मताभिधा, प्रगुमती भवतीह न चान्यथा ॥१३॥

तव मते वृषसाधन उज्झिते, वनितया चरण न हि साध्यते ।
शिवपद न च केवलयुग् पुन , तदृढाङ्गजहेतुरिलाहनि ॥१४॥

न च गताम्बरिका न हि योषित , परमते यदिमा वसनोज्झिता ।
स्फुटतर तु निभाल्य योगिनीर्न रुचिर रचित तव तन्मत ॥१५॥

शिशु-मदानिल-भूतगणार्दितो, भवति नग्न इहापि न शम्यसौ ।
जिनप-शासनसम्मतमाश्रयानसनवजनमाश्रवसहते ॥१६॥

स्वपर-लिङ्गि-गृहाश्रितलिङ्गिना, निगदिता पदवी शिवभाविनी ।
श्रुतवतो घटते शुभभाविना-मनुमत तदिहाम्बरवर्जित । ॥१७॥

ममतया रहितो मुनिराहतो, यदि परो भवतीह शिव गमी ।
मतमिद सकलाघविनिगत, श्रयति शुद्धमना श्रुतभावुक ॥१८॥

---